ब्राह्मण की 'गौ'

लेखक—'अभय' विद्यालंकार

प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।
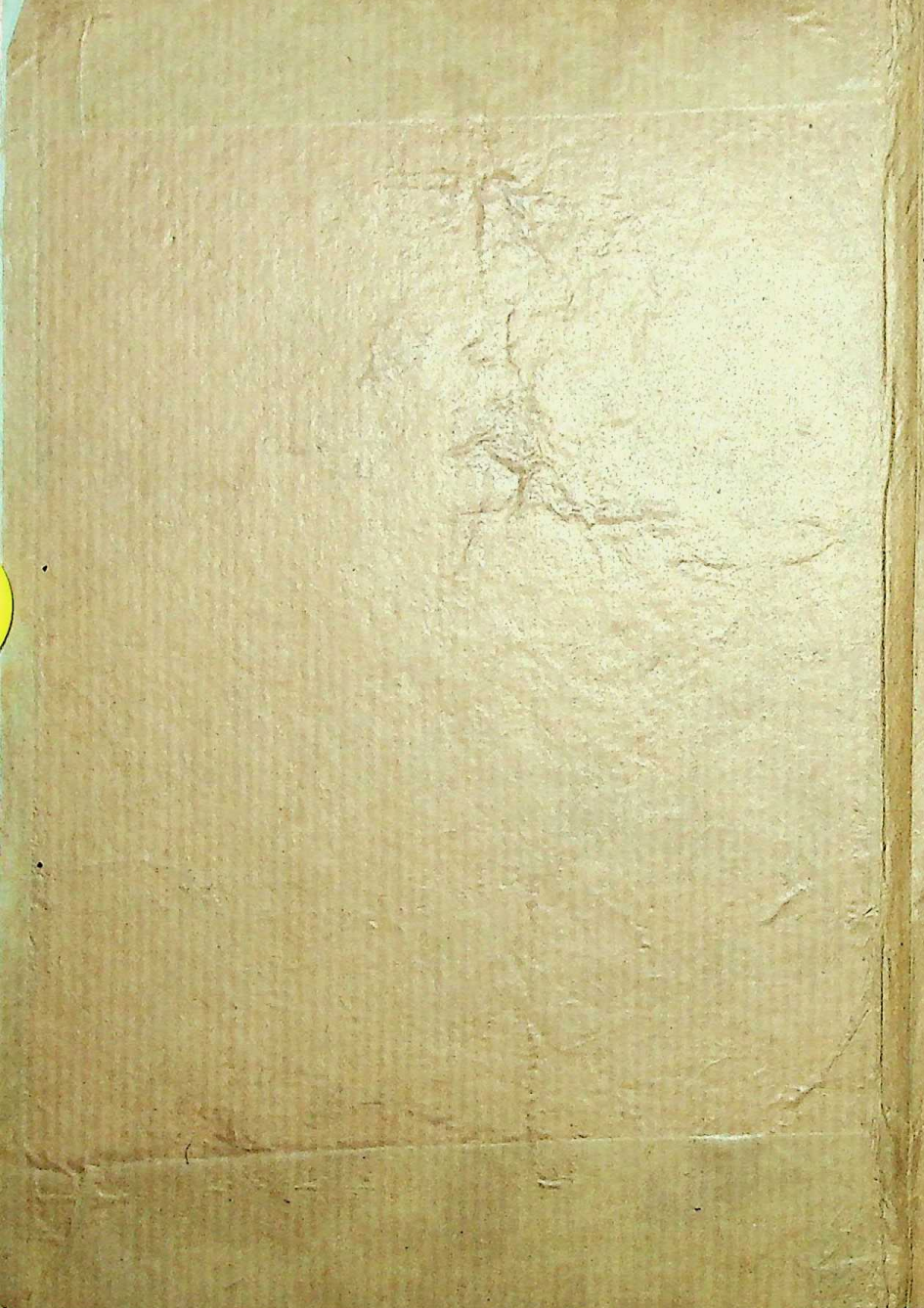
स्वाध्यायमञ्जरी

ब्राह्मण की 'गौ'
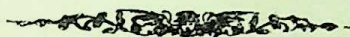
लेखक—

श्री देवशर्मा 'अभय' विद्यालंकार

'श्रद्धानन्द-स्मारकनिधि' के सभासदों की सेवा में
गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगड़ी की ओर से
संवत् १९८९ के लिये
सप्रेम भेंट

प्रकाशक—
मुख्याधिष्ठाता,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (सहारनपुर)।

प्रथम संस्करण		संवत् १९८६ ।
दूसरा संस्करण		संवत् १९९२ ।
तीसरा संस्करण	१००० प्रति	संवत् २००७ ।

मुद्रक—
श्री हरिवंश वेदालंकार,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी ।

समर्पण

—:*:—

जो कि वैदिकधर्म के प्रसिद्ध प्रेमी हैं, जिन्होंने गुरुकुल
में हिन्दी गद्दी स्थापित करके अपनी प्रगाढ़ हिन्दी-
भक्ति का परिचय दिया है, जो कि वैदिक
साहित्य के प्रसार के लिये उत्कंठित हैं
अतः जो स कार्य में भी अपनी
सहायता दे रहे हैं, उन आर्य-
शासक, सुशील, सद्गुणधारी
शाहपुरा के महाराजकुमार
श्री उम्मेदसिंह जी के
धर्मरक्षक करकमलों
में गुरुकुल की
यह एक वेद-
संबंधी रचना
समर्पित
है।

भेंट

(श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सदस्यों की सेवा में)

प्रिय महोदय,

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि शाहपुरा के महाराज कुमार श्री उम्मेदसिंह जी ने वैदिक साहित्य-सम्बन्धी एक ग्रन्थमाला निकालने के लिये कुछ दान दिया है। उस ग्रन्थमाला का एक अङ्ग यह प्रतिवर्ष निकलने वाली 'स्वाध्याय-मञ्जरी' भी होगी। अतएव हम यह स्वाध्यायमञ्जरी इस बार उनके द्वारा ही आपको भेंट कर रहे हैं।

इसमें जो स्वाध्याय का विषय है, उसको तो आप अवश्य ही हृदय से स्वीकार करेंगे अर्थात् इसमें कहे वेद के उपदेशों को जीवन में अपनायेंगे। तभी हम यह भेंट सफल समझेंगे।

मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी।

प्रस्तावना

आप स्वाध्यायप्रमी सज्जनों की सेवा में इस वर्ष अथर्ववेद का यह ब्रह्मगवी सूक्त (पञ्चम काण्ड का १८ वां सूक्त) स्वाध्याय के लिये समर्पित है । इस सूक्त में एक महाबली प्रजा-द्रोही राजा के मुकाबले में एक विचारे ब्राह्मण की गरीब सी वाणी को दिखाया है जिसमें कि अन्त में इस 'ब्राह्मण-वाणी' की ही अनायास विजय होती है। ईश्वर शासित इस संसार में यह घटना कोई नयी नहीं है। ऐसा सदा ही होता है। यह सनातन सत्य है। पर हम इसे देखते हुवे भी नहीं देखते।

इस सत्य का दर्शन हमें कौन करवावे ? भारतवर्ष की रज:कण से उत्पन्न हुई हम सन्तानों में जिनमें कि वैदिक सभ्यता चिरकाल तक कभी पूर्ण यौवन में विकसित रही है यदि वेद का यह सुन्दर ओजस्वी सूक्त-गीत इस सत्य को सुझाने में सहायक हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

यह वैदिक सूक्त तो राजा प्रजा दोनों के लिये है। इस सूक्त के सार्वभौम, सार्वदेशिक उपदेश को यदि दोनों (राजा और प्रजा) सुनें, स्वीकार करें तो निस्सन्देह दोनों का इसमें कल्याण होगा। पर हम प्रजाजनों को तो इस सूक्त से अपने लिये उपदेश लेना ही चाहिये. इसमें सन्देह नहीं कि यदि हम इस सूक्त में सुझाई गई सचाई को स्वीकार कर लें तो

मरे हुवे, दबे हुवे, बिलकुल हताश हुवे हम भारतवासियों में नये प्राण का संचार हो जाय। इसमें हमारे लिये आशा का आत्मविश्वास का सन्देश है। यदि हम इसे सुनलें तो अन्याय की भयङ्कर चतुराङ्गणी फौज से चारों तरफ घिरे हुवे भी वेशक हम हों तो भी—

'अद्य जीवनि मा श्वः'

'अन्याय आज वेशक जीवित है, पर कल नहीं' इस अटल श्रद्धा के कारण इस दशा में भी निर्भीक और निश्चिन्त होकर अपने मार्ग में चलते-चले जायँ। इस सूक्त के ८ वें मन्त्र में जिस दिव्य अस्त्र का वर्णन है और जिसे ९ वें मन्त्र में अमोघ अस्त्र कहा है, यदि हम सचमुच पूरे दिल से उस अस्त्र को ग्रहण करलें तो हमें कौन दुनिया में नीचा रख सकता है हम धनुष बाण (तोप बन्दूक) को ही हथियार समझते हैं? और इनके अभाव को देखकर दुःखी होते हैं, पर तब हमें पता लग जाय कि हमारा असली बल, हमारा असली शस्त्र सदा हमारे पास है। उसके सामने तोप बन्दूक बिलकुल हेच हैं, ये वेकार पड़ी रह जाती हैं।

ईश्वर करे कि इस सूक्त का अध्ययन हम असहायों में हमारे असली बल को अनुभव करा दे, हमारे हाथों में हमारा सच्चा अमोघ अस्त्र पकड़ा दे।

—'अभय'

विषय-सूचि

प्रारम्भिक विवेचना

—:०:—

पाठक इस ब्रह्मगवी सूक्त का अर्थ पढ़ना प्रारम्भ करें, इससे पहिले यह आवश्यक है कि वे अपने हृदयों में कुछ बातें अच्छी तरह जमा लें। शब्दों के अर्थ, शब्दों के भाव और अभिप्राय समय-समय पर बदलते रहते हैं। वेद काल के उस अति प्राचीन युग में एक शब्द का क्या अर्थ था, इसके साथ क्या-क्या भाव जुड़े हुये थे, यह सब कुछ आज हम ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। जब कभी वैदिक-भाषा

बोली जाती थी, उस समय के लोग उनके पूरे भाव एक-दम ग्रहण कर सकते थे, पर आज हज़ारों लाखों वर्षों के बाद एक नयी भाषा (लौकिक संस्कृत भी वैदिक संस्कृत की अपेक्षा एक बिलकुल नई भाषा है) बोलने वाले हम लोगों को वैदिक शब्दों का अर्थ समझाने के लिये तो बड़े विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। वैदिक भाषा से लौकिक संस्कृत भाषा इतनी भिन्न हो गई है कि वैदिक शब्दों का अर्थ लौकिक संस्कृत में बहुत बदल ही नहीं गया किन्तु बिलकुल उलटा तक हो गया है। व्रात्य, असुर आदि बहुत से शब्द उदाहरण के लिये उपस्थित किये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हमें ब्रह्मगवी सूक्त का ठीक-ठीक आशय जानने के लिये भी इस सूक्त के कुछ मुख्य शब्दों का (जो कि शब्द इस सूक्त में बार-बार आते हैं) अर्थ समझने के लिये कुछ विशेष प्रयत्न करना आवश्यक होगा। इस सूक्त के ये मुख्य शब्द चार हैं। १—गौ २—'अद्' धातु के रूप (जैसे अत्तवे, अद्यात्, अन्न इत्यादि) ३—ब्राह्मण ४—वैतहव्य।

वैसे यह सूक्त बहुत कुछ स्पष्ट है। इसकी वाक्यरचना बहुत सरल है। यदि हम इन चार शब्दों को ऐसे ही रहने दें—इनका स्पष्टीकरण न करें—तो इस सूक्त का सारांश निम्न शब्दों में बोला जा सकता है।

'हे राजा ! तू 'ब्राह्मण' की "गौ" को मत अदन कर, मत नाश कर। ब्राह्मण की हिंसा मत कर। इसका बड़ा घोर दुष्परिणाम होगा। मारी जाती हुवी 'ब्राह्मण' की 'गौ' राष्ट्र को मार डालती है। 'वैतहव्य" सैकड़ों हजारों थे, पर वे 'गौ' के "अदन" करने के कारण सब मारे गये .....।

इस सारांश को सुन कर पाठक देख लेंगे कि यदि केवल इन चार शब्दों का अर्थ हमें स्पष्ट हो जाय तो फिर इस सूक्त के स्पष्ट हो जाने में कुछ देर न लगेगी। इसलिये इस सूक्त की विवेचना के लिये जो प्रारम्भिक चार बातें जान लेनी हमें आवश्यक हैं वह यह हैं।

१. इस सूक्त में ब्राह्मण को 'गौ' क्या है ?
२. 'अदन' करने का क्या अभिप्राय है ?
३. 'ब्राह्मण' कौन है ?
४. 'वैतहव्य' कौन हैं ?

यद्यपि 'गौ' और 'ब्राह्मण' ये दो शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ न केवल संस्कृत भाषा में बल्कि हिन्दी भाषा में भी अति प्रसिद्ध हैं तो भी इनके ये प्रसिद्ध अर्थ जिनसे कि हम सुपरिचित हैं वे नहीं हैं जो कि वेद में इनके अर्थ प्रसिद्ध हैं और जो कि इस सूक्त में इन शब्दों का वास्तविक अर्थ है। यही बात अद्धातु के विषय में है। ऊपर कहा

ही जा चुका है कि वेद के अति प्राचीन शब्दों के अर्थ, भाव और अभिप्राय इस समय तक बहुत कुछ बदल चुके हैं। इस-लिये जहाँ 'वैतहव्य'' शब्द का (जिससे कि हम अपरिचित हैं) अर्थ हमें जानना होगा, वहाँ 'गौ' और 'ब्राह्मण' और 'अदन' शब्द का आशय भी हमें प्रयत्न पूर्वक खोज कर अपने हृदय में जमाना होगा।

इन चारों बातों पर क्रमशः विचार करते हैं।

१—ब्राह्मण की गौ क्या है ?

इस शीर्षक के नीचे हमें 'गौ' शब्द पर ही विचार करना है। गौ का सम्बन्धवाचक जो वहाँ ब्राह्मण शब्द है उस पर विचार "ब्राह्मण कौन है" इस तीसरे प्रकरण में हो जायेगा।

आजकल की अपनी भाषा बोलने वाले हम लोगों को तो 'गौ' यह सुन कर 'गाय' कहलाने वाले, चार पैरों वाले, प्रसिद्ध पालतू पशु के अतिरिक्त और कुछ ध्यान नहीं आता है। हमारे मनों में इस शब्द के साथ इसी अर्थ का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। बोलते-बोलते यह सम्बन्ध दृढ़ हो चुका है। अतः यद्यपि वेद में तो इस अर्थ के साथ-साथ 'गौ' शब्द के इससे भिन्न भी बहुत अर्थ हैं, तो भी हम में से लौकिक संस्कृत पढ़ा हुआ व्यक्ति भी जब सूक्त में 'गौ' शब्द सुनेगा

तो वह अपने इसी दृढ़ संस्कारवश 'गाय पशु' इस अर्थ के अतिरिक्त और किसी अर्थ की कल्पना 'गौ' शब्द से नहीं कर सकेगा।

पर हमें यह विदित होना चाहिये कि वेद के शब्दकोप (निघण्टु) का प्रारम्भ ही 'गौ, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा' इस तरह गौ शब्द से होता है और वहाँ पर ही 'गौ' शब्द का अथ गाय नहीं है, किन्तु पृथ्वी है। अर्थात् वेद में 'गौ' का प्रसिद्ध अर्थ गाय नहीं है। वेद में 'गौ' का सबसे मुख्य अर्थ पृथ्वी ही कहा जा सकता है। वैदिक साहित्य में गौ-शब्द के प्रसिद्ध अर्थ क्रमशः 'पृथ्वी, 'द्यौ' लोक, वाणी और गाय हुवे हैं, फिर लाक्षणिक अर्थों में जायँ तो गो-शब्द 'धन, किरण, प्रकाश, इन्द्रिय, जल, स्तोता और गाय से सम्बन्ध रखने वाले दूध, घी, चमड़ा आदि' तक का वाचक हुआ है। गौ-शब्द के वेद में इतने अथ होते हैं। इसलिये इस सूक्त का ठीक अर्थ जानने के लिये जो हमें सबसे पहला प्रयत्न करना चाहिये, वह यह है कि हम अपने दिलों से यह संस्कार हटा दें कि गो शब्द का अर्थ केवल 'गाय' यही होता है। यदि हम इतना भी न करेंगे तो हम वेद के साथ बड़ा अन्याय करेंगे। यह इसलिये कहना आवश्यक हुआ है क्योंकि ग्रीफिथ आदि पाश्चात्य टीकाकारों ने इस सूक्त के गौ-शब्द का अथ 'गाय' ही कर डाला है। इसका कारण

यही पहिले से पड़ा हुआ संस्कार है । यद्यपि (इस सूक्त के के पढ़ने पर पाठक देखेंगे) गाय अर्थ करने पर इस सूक्त का अर्थ किसी तरह सङ्गत नहीं होता, तो भी यही अर्थ करना पूर्व संस्कारों की प्रबलता को सिद्ध करता है ! इसलिये वेद-प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे अपने मन में पहिले यह जमा लें कि वेद में गो-शब्द के अर्थ पृथिवी, द्यौ, वाणी, किरण, गाय आदि बहुत से (कम से कम ११ या १२) अर्थ होते हैं और इन सब अर्थों में गो-शब्द वेद मन्त्रों में बार बार प्रयुक्त हुआ है । जिन्होंने वेद का कुछ भी स्वयं स्वाध्याय किया है, वे तो यह बात जान चुके होंगे कि गो-शब्द वेद में इतने अधिक (११, १२) अर्थों में जगह-जगह व्यवहृत होता है, पर साधारण पाठक भी यह अच्छी तरह समझ लें कि गो-शब्द के इन ११, १२ अर्थों में से भी 'गाय' यह अर्थ गो-शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है । अस्तु,

तो अब हमें यह विचारना है कि 'पृथिवी' आदि अनेक अर्थों में से इस सूक्त में गो-शब्द का कौन-सा अर्थ है । यदि हम सूक्त का ज़रा ध्यान से अध्ययन करें तो हमें पता लगेगा कि यहाँ गो-शब्द का अभिप्राय 'वाणी' है, पृथिवी, द्यौ, गाय नहीं । इस सूक्त की व्याख्या जब पाठक पढ़ेंगे तो उन्हें ऐसे संकेत तो जगह-जगह दिये जायेंगे, जिन से पता लगे कि इस सूक्त में 'गो'-शब्द का अर्थ गाय

नहीं है। यहाँ तो हम इस बात की सिद्धि के लिये कि इस सूक्त में 'गौ" का अर्थ वाणी ही है, इसी सूक्त में विद्यमान एक साक्षी देना पर्याप्त समझते हैं। इस अत्यन्त स्पष्ट अन्तः साक्षी के सुन लेने पर हमें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता न रहेगी। इस सूक्त का आठवाँ मन्त्र पढ़िये, वह इस प्रकार है—

> जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्,
> नाडीका दन्तास्तपसाऽभिदिग्धाः।
> तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्,
> हृद्बलैर्धनुभिर्देवजूतैः ॥

इस मन्त्र को इस सूक्त का मुख्य मन्त्र समझना चाहिये। (इस मन्त्र के अर्थ को हमने चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया है।) इस मन्त्र में रूपक अलङ्कार से यह बतलाया गया है कि सताने वाले राजा को ब्राह्मण अपने इस 'गो' रूपी धनुष से कैसे नष्ट करता है। पर धनुष के साथ जो गौ का रूपक है, उस में धनुष के अंगों की वाणी के अंगों से तुलना की गई है; न कि गाय पशु के अंगों से।

रूपक इस प्रकार है—

धनुष	वाणी
ज्या (प्रत्यञ्चा)	(जिह्वा) जीभ है।
बाणदण्ड	उच्चारित शब्द हैं।
बाण की नोक	नाडियाँ (nerves) हैं
(अग्नि)	तप है
धनुर्दण्ड	हृदय-बल है

यदि यहाँ गौ का अभिप्राय गाय होता तो धनुष की उपमा जीभ, उच्चारित शब्द आदि (वाणी के अवयवों) से न दे कर सींग पूंछ आदि (गाय के अवयवों) से दी गई होती। यह इतना स्पष्ट है कि आश्चर्य होता है कि इस सूक्त के 'गो' शब्द का अथ गाय कर डालने वाले टीकाकारों का ध्यान इस पर कैसे न गया। हाँ, यदि यह मान लिया जाय कि वेद की बातें अप्रासङ्गिक, असम्बद्ध अयुक्ति युक्त होती हैं, तब तो उन का इस इतनी स्पष्ट बात पर ध्यान न जाना समझ में आ जाता है। बात यह है कि पाश्चात्य विद्वान् (तथा उसी प्रकृति वाले या उन का अनुसरण करने वाले कुछ भारतीय) यह श्रद्धा तो नहीं रखते हैं कि वेद के अर्थ कुछ गौरवयुक्त या कम से कम युक्तियुक्त अवश्य हैं, इस लिये वेद का अर्थ करने के लिये वे कोई सावधानी रखने का यत्न नहीं करते। इस लिये स्वभावतः अपने पूर्व संस्कारों (लौकिक संस्कृत के

संस्कारों) के वश हो कर कुछ का कुछ अर्थ कर डालते हैं। अस्तु,

इस सूक्त में गौ-शब्द का अभिप्राय तो निश्चय से वाणी ही है, पर इसका यह मतलब नहीं कि गो-शब्द के अन्य अर्थों का इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। असल में गो-शब्द के जितने अर्थ हैं, उन सब का ही आपस में सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को हम आगे दिखलायेंगे। यहां इतना कहना है कि यद्यपि यहाँ 'गौ' शब्द वाणी के लिये प्रयुक्त हुआ है, तो भी इस में इस अर्थ के लिये वाणी के अन्य वैदिक पर्यायवाची शब्द (सरस्वती गी आदि) या 'वाणी' शब्द ही स्पष्ट न रखकर जो 'वाणी' के लिये 'गौ' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह एक विशेष प्रयोजन के लिये है। इस में जो 'गौ' शब्द का अभिप्राय है, उसे यदि हम आज-कल की अपनी भाषा में ठीक-ठीक प्रकट करना चाहें तो हम 'वाणी-रूप गाय' इस तरह अधिक से अधिक ठीक रूप में बोल सकते हैं। यह भाव इस सूक्त में 'वाणी' शब्द रखकर कभी नहीं प्रकट किया जा सकता था। 'गौ' शब्द में ही यह भाव भरा हुआ है। गौ-शब्द के साथ एक निर्दोषिता, भोलेपन रक्षणीयता का भाव लगा हुआ है। दूसरे शब्दों में हम यहाँ 'गो' शब्द का भाव हिन्दी में 'बिचारी वाणी' इन शब्दों में बोल सकते हैं। जब हम कहते हैं 'बिचारा ग़रीब ब्राह्मण

मारा गया तो इस वाक्य में विचारा शब्द का जो भाव है, वह वैदिक भाषा में गौ-शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। तात्पर्य यह है कि वैदिक साहित्य में 'गौ' वह वस्तु है जो कि स्वयं निर्दोष है, दूसरों का सदा भला करने वाली है, सदा अन्यों द्वारा रक्षणीय है। इसलिये गौ का वैदिक पर्याय शब्द 'अघ्न्या' (कभी न मारने योग्य), 'अदिति' आदि होते हैं। बल्कि निघण्टु में गाय के नाम गिनाते हुए सबसे पहिला नाम ही 'अघ्न्या' रखा हुआ है। यह हमेशा पालनीय होती है। इसी तरह ब्राह्मण की वाणी भी सदा पालनीय होती है, यह भाव लाने के लिये यहाँ वाणी शब्द न रख 'गौ' शब्द रखा गया है। हे राजा! तू ब्राह्मण की वाणी मत नाश कर' इसकी जगह 'तू ब्राह्मण की 'गौ' को मत नाश कर', इस वाक्य में बड़ा बल आ जाता है। यह ध्वनित होता है, कि ब्राह्मण की वाणी जो कि विचारी सदा पालनीय है, उपकार करने वाली है, उसे नाश करना कितना बुरा है—बल्कि यह ध्वनित होता है कि इससे गो-हत्या का पाप लगता है।

'गौ' शब्द वैदिक भाषा में जिन-जिन वस्तुओं का नाम हुआ है, उन सब में यह एक भाव सम-रूप से विद्यमान है कि वे सब 'गौ' यदि पाली-पोसी जायँ तो बड़ा भारी उपकार करती हैं। यदि उन विचारियों को असहाय समझ

नाश कर दें तो वे नष्ट तो हो जाती हैं (या नष्ट हो गयी दीखती हैं) पर हम भी उनके अभाव से नष्ट हो जाते हैं। भूमि, वाणी, किरण, गाय आदि सब गौ इसी प्रकार की हैं। भूमि-गौ की यदि हम जोतने सींचने आदि द्वारा सेवा करें तो वह हमें एक दाने की जगह सैंकड़ों दाने पैदा कर देती है। गाय 'गौ' को पालें पोसें तो वह घास खाकर हमें अमृतमय दूध देती है। सूर्य-किरण 'गौ' को यदि हम मारें नहीं, रोकें नहीं खुला आने दें तो वह हमें अमूल्य जीवन शक्ति देने वाली वस्तु है। इसी तरह वाणी गौ' भी —खास तौर पर ब्राह्मण की वाणी–गौ— रक्षित-पालित होकर बड़ा भारी उपकार करने वाली वस्तु है। इस भाव को प्रकट करने के लिये इस सूक्त में वाणीवाचक बहुत से वैदिक शब्दों के होते हुए भी यहां 'गौ' शब्द को ही रखा गया है। इसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिये हम भी इस पुस्तक में इस सूक्त के 'गौ' पद का अर्थ बहुत वार केवल वाणी न करके 'वाणी गौ' या वाणी रूपी गौ' करेंगे; ऐसे ही व्यवहार करेंगे।

अदन करने का अभिप्राय क्या है ?

इसी सिलसिले में यह भी विचार कर लेना चाहिये कि सूक्त में ब्राह्मण की वाणी को 'रोकना' 'बन्द करना' इस

अर्थ के लिये 'हन्' धातु या अद्' धातु का प्रयोग आया है। यदि इसका शब्दार्थ करें तो वाणी का 'मारना' या वाणी को खा जाना' यह अर्थ बनता है। हमारे कानों को यह अखरेगा—अस्वाभाविक लगेगा, खींचातानी प्रतीत होगी। पर यह दोष एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्दः अनुवाद करने का है यदि हम वेद के मुहावरों को समझें तो 'ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा' इस वैदिक वाक्य में हमें बड़ा सौन्दर्य लगे, यद्यपि इसका हिन्दी का शब्दानुवाद ब्राह्मण की वाणी को खाकर' इस तरह अटपटा-सा होगा। पाश्चात्य टीकाकार तो मजे में इसका अर्थ ब्राह्मण की गाय को खाकर ऐसा कर डालेगा और यह परिणाम निकाल लेगा कि वेद के ज़माने में लोग गाय को खाया करते थे। पर यदि हम अपने संस्कारवश वेद का अथ न करें, किन्तु वेद को बार बार पढ़ कर वैदिक भावों के संस्कारों को अपने पर दृढ़ करके [अपने पूर्व संस्कारों का छोड़ कर] वेद को देखें तब ऐसी बात न होगी। वेद के किन अर्थों में कैसी वाक्य-रचना होती है यह तब हम जान जायेंगे। गौ-शब्द को देखते ही उसका अर्थ 'गाय' ही कर देना और 'जग्ध्वा' का अर्थ सीधा खा जाना, चबा जाना कर देना कितना अत्याचार करना है।

यदि कोई अंग्रेज़ी 'Sweet girl' इस वाक्य का

अर्थ "मीठी लड़की" ऐसा कर दे, तो यह अनजान समझा जायेगा। गुरुकुल में हमारे सिन्धी उपाध्याय ने (जो कि शुरू में हिन्दी नहीं जानते थे] पहिले ही दिन स्काट की 'मार्मियन' नामक कविता को पढ़ते हुए सचमुच 'Sweet girl' का अर्थ "मीठी लड़की" यह करके सुनाया था। यह अर्थ सुन कर यदि कोई आगे यह अनुमान भी लगावे कि स्काट के ज़माने में इङ्गलैण्ड के लोग लड़कियों को खा जाया करते थे क्योंकि बिना खाये लड़की का स्वाद कैसे पता लग सकता है कि वह मीठी है या कड़वी, तो यह कितना अनर्थ होगा। Young India में यदि कहीं M. D. ने यह वाक्य लिखा हो "Gandhiji was drinking in the scenery of the Himalayas at Almora" और हमारे जैसा कोई नयी अंग्रेज़ी के शौक़ वाला इसका सीधा यह अर्थ कर दे कि 'गान्धी जी अलमोड़ा में हिमालय के दृश्य में पी रहे थे' तो उस अंग्रेज़ी वाक्य की कैसी दुर्दशा होगी। फिर यदि कोई ज़रासी अधिक अंग्रेज़ी जानने वाला [जो कि यह जानता है कि 'He drinks' इस वाक्य का अर्थ **'वह शराब पीता है'** [ऐसा है] इस के अर्थ को शुद्ध करके ठीक ठीक अर्थ यह बता दे की अलमोड़ा में गान्धी जी हिमालय के दृश्य में शराब पी रहे थे' तब तो अनर्थ की हद हो जाय। ऐसा अनर्थ करना पाप होगा। पर वेद का यूं ही

'गाय खाना' अर्थ कर देना इससे अधिक ही पाप करना है।

असली बात यह है कि लड़की को केवल 'अच्छे स्वभाव वाली, मन को प्रसन्न करने वाली' कहने की अपेक्षा 'मधुर' कहना अधिक काव्यमय और सुन्दर है। 'गान्धी जी हिमालय के दृश्य को तन्मय हो कर देख रहे थे, उसका आनन्द ले रहे थे' इतना कहने की अपेक्षा 'वे दृश्य को पी रहे थे' ऐसा कहना बड़ा सुन्दर है। इसी तरह 'राजा ब्राह्मण की वाणी को रोकता है बोलने नहीं देता है,' उसकी जगह 'वाणी को खा जाता है' ऐसा कहने में एक बड़ा सौन्दर्य है। खा जाने' में जो भाव आता है वह रोकने में नहीं आता। खा जाने में यह भाव आता है कि 'वह आसानी से, मज़े में उसे नाश कर देता है. आनन्द लेते हुए ख़तम कर देता है।' ऐसा भाव लाने के लिये 'अद्' धातु का प्रयोग है। हम दूर क्यों जायँ इसी सूक्त में आता है कि—

(१) योब्राह्मण अन्नमेव मन्यते'

(मन्त्र ४)

(२) यो मल्वः ब्राह्मणमन्त्र स्वादु अद्मि इति मन्यते

(मन्त्र ७)

इसका क्रमशः शब्दार्थ यह होता है (१) जो ब्राह्मण को अन्न समझता है (२) जो 'मल्व' ब्राह्मणों को स्वादु अन्न खा

रहा हूं ऐसा समझता है। पाश्चात्य लोग भी इतना तो मानेंगे कि यहां ब्राह्मण को खा जाने की, चबा जाने की बात नहीं लिखी है; गाय के न खाने की बात में उन्हें बेशक भारी सन्देह हो पर ब्राह्मण को खा जाना यहां मतलब नहीं, यह तो उन्हें भी असन्दिग्ध है। तो फिर इस वाक्य में अन्न का क्या अर्थ है? अन्न तो खा जाने की चीज़ को ही कहते हैं। यहां अन्न का अर्थ अलङ्कारिक है, अर्थात् ब्राह्मण को खूब सताना यह है, ब्राह्मण बड़ी आसानी से (मज़ा लेते हुए) सताया व मारा जा सकता है यह अभिप्राय है, तो इस सूक्त में (इन मन्त्रों के आस-पास के मन्त्रों में ही) 'गौ' (वाणी) के साथ भी ऐसा मतलब क्यों नहीं है? कितनी साफ़ बात है कि जिस अर्थ में ब्राह्मण के साथ इन दो मन्त्रों में अद् धातु का प्रयोग है उसी अर्थ में अद् धातु का प्रयोग गौ के साथ भी शेष सूक्त में है। ब्राह्मण के साथ 'अदन' का अर्थ यदि- सताना और नाश करना है (वहां तो ग्रीफ़िथ ने 'हन्ति' का अर्थ भी Smites किया है, Kills नहीं) तो वाणी के साथ भी 'नाश करना' क्यों नहीं' वहाँ 'खा जाना' क्यों है?

अतः यहाँ अदन से जो अभिप्राय है वह यह है कि राजा जहाँ अन्य बहुत-सी चीज़ों का—बुराइयों का—अपनी बड़ी शक्ति द्वारा आसानी से नाश कर देता है, वैसे ही यह विचार ब्राह्मण की निर्दोष आज़ (वाणी-गौ) को भी बन्द कर

देता है, उसे [तुच्छ] मज़े से खाने की चीज़ समझ लेता है। इस सूक्त को जब पाठक पढ़ेंगे तो वे यह भाव एक एक मन्त्र में स्पष्ट देखेंगे।

वेद की अद् धातु को जाने दें। हिन्दी भाषा का ही 'खाना' शब्द अलंकारिक अर्थों में कैसे प्रयुक्त होता है इसके बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। पण्डित सातवलेकर जी ने अपने अथर्व वेद के सुबोधभाष्य में इसी स्थल पर एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है कि जब हम कहते हैं कि फ़लाना राजकर्मचारी पैसे खाता है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह अन्न की तरह रुपये आने पाई खाता है, या जब हम यह कहते हैं कि अनियन्त्रित राजा प्रजा को खाता है तो उसका मतलब यह नहीं होता कि प्रजा के लोंगों को चबा कर पेट में ले जाता है। इसो तरह इस सूक्त में अद् धातु का प्रयोग है। यदि यहां अद् का प्रयाग न कर के 'आसानी से नाश कर देता है' 'मज़ा लेता हुआ रोक देता है' ऐसा कहा जाता तो वह भाव न आता जो कि 'खजाना' कहने से आता है। इसी तरह हिन्दी में जब हम बोलते हैं 'वह रिशवत खाता है' 'उसने उसकी जायदाद हड़प कर ली' आज मुझे मच्छरों ने खा लिया' 'उसने अपनी सम्पत्ति ऐसे ही स्वाहा करदी' तो यदि इन वाक्यों के 'खाना' 'हड़पना' 'स्वाहा करना' आदि पदों का शब्दार्थ ही लेवें तो वाक्य का सारा सौन्दर्य

मारा जाय, इस का मतलब तो कुछ बनता ही नहीं। इसी तरह इस सूक्त में आसानी से मज़े में नाश कर देना, इसकी जगह 'अदन करना' (खाना) इस प्रयोग में बड़ा सौन्दर्य है और सौन्दर्य-पूर्वक भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

पाठकों को समझाने के लिये तो यह भी बतलाया जा सकता है कि वाणी के साथ जो 'अद्' धातु का इस सूक्त में प्रयोग है वह 'अद् भक्षणे' का नहीं है, किन्तु 'अदि बन्धने, का वैदिक प्रयोग है। अतः वाणी का अदन (अन्दन) करने का मतलब वाणी को रोकना ही है (आजकल की भाषा में कहें तो दफ़ा १४४ लगाना है)। पर वह उन लोगों को समझाने के लिये है जिनके कि मन में 'अद् भक्षणे' इस धातु से बना हुआ यह मुहावरा ठीक नहीं जंचता है। धातु तो पीछे बनी हैं, उसके प्रयोग पहिले थे। अतः 'अद्' जैसे शब्द का प्रयाग'खाने में' और दोनों'बांधने में' दोनों में देखा गया तभी पाणिनि ने 'अद् भक्षणे' और 'अदि बन्धने, ये दोनों धातुएँ बना दीं। अतः "वाणी का अदन करना" इस में "वाणी" को खाना" इसके साथ साथ "वाणी को बन्धन में डालना" यह भाव भी स्वयं समाया हुआ है। धातु का नाम तो समझाने के लिये बोलना होता है। अतः अदन का अर्थ 'बांधना' सर्वथा ठीक है।

वैसे यदि शब्द शास्त्र के शब्दों में यह बात समझनी

होगी तब तो हमें यह प्रयोग 'अद् भक्षणे' का मुहावरे का रूप है इसी तरह इसे समझाना ज्यादह अच्छा लगता है। यह तो कहने की जरूरत नहीं कि विशेषतया जब कि इस सूक्त में वाणी के लिये प्रयोग 'गौ' शब्द का किया है तब 'अदन' में (अद् भक्षणे द्वारा) खाने का ही भाव रख कर इसकी व्याख्या करना अधिक सुन्दर लगता है। चाहे व्याकरण के नियम वेद में बहुत शिथिल होते हैं, पर व्याकरण की दृष्टि से भी अद् भक्षणे का प्रयोग मानना ही अधिक सुविधाजनक है। जो हो 'अदि बन्धने' से कहो या 'अद् भक्षणे' से कहो, हमें अपने मन में यह संस्कार दृढ़ कर लेना चाहिये कि इस सूक्त में गौ वाणी के साथ आये 'अदन' का अर्थ 'वाणी को रोकना, बांधना' ऐसा है; मुंह में डाल कर खाना कभी नहीं।

आशा है कि गौ और अदन सम्बन्धी इस विस्तृत विवेचन के बाद हमने जो इसका अर्थ 'वाणी को रोकना ठहराया है उसे पाठक खींचातानी न समझेंगे, किन्तु इस ठीक अर्थ के सच्चे संस्कारों को हृदय में जमाने का यत्न करेंगे और जिन लोगों ने पहिले संस्कारों के वश असावधानी से अर्थ करके घोर अनर्थ किया है उनके वेद के प्रति असह्य अत्याचार को अनुभव करेंगे।

अस्तु अब हम इस सूक्त में—

३— ब्राह्मण कौन है ?

इस बात पर आते हैं । ब्राह्मण यह शब्द सुनकर भी हमारे पुराने संस्कार हमारे सामने आज कल के भारतवर्ष में दीखने वाले एक अनुदार, पुरानी रूढ़ियों के उपासक व्यक्ति को उपस्थित कर देंगे, यदि वे एक बेपढ़े, परान्नजीवी रोटी पकाना आदि का पेशा करने वाले 'ब्राह्मण' का चित्र सामने न ले आयेंगे । परन्तु वेद का कुछ स्वाध्याय करने वाला भी जान जायेगा कि वेद के ब्राह्मण का चित्र कुछ और ही है । वेद में ब्राह्मण मुखस्थानीय माना है। मुख की तरह वह बिलकुल निःस्वार्थ व्यक्ति है। अपने आप कुछ न भोगनेवाला, दूसरों का ज्ञान-दान द्वारा और यज्ञ द्वारा निरन्तर उपकार करनेवाला व्यक्ति है । यह वैदिक ब्राह्मण का सामान्य स्वरूप हुआ ।

पर इस सूक्त में ब्राह्मण का वर्णन प्रजा के सम्बन्ध से आया है । अतः इस सूक्त का ब्राह्मण 'प्रजा का निःस्वार्थ सेवक' इस रूप में है । इसके लिये इस सूक्त में जगह जगह प्रमाण विद्यमान हैं । देखिये १२ वें मन्त्र में प्रजा को ब्राह्मण की प्रजा कहा है ।

प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीम्

एवं इससे अगले ५--१९ सूक्त के ११ वें मंत्र में भी प्रजा को ब्राह्मण की (ब्राह्मणी) कहा है इससे पहले ५--१७ सूक्त में ब्राह्मण को ही एकमात्र प्रजा का या लोक प्रजा का पति कहा है ।

ब्रह्मण एव पतिः न राजन्यो न वैश्यः

५.१७-६

इस ब्रह्मगवी सूक्त के 'छठे मन्त्र में ब्राह्मण को प्यारे राष्ट्र-शरीर की अग्नि कहा है। इन सब वचनों से पाठक समझ लेवें कि इस सूक्त का ब्राह्मण कैसा व्यक्ति है। मतलब यह है कि ब्राह्मण "प्रजा का एक निःस्वार्थ बड़ा सेवक, अतएव बड़ा नेता" इस सूक्त में समझा गया है। इस सूक्त के १३ वें मन्त्र में जो ब्राह्मण को देवबन्धु' कहा है और प्रजाद्रोही राजा को 'देवपीयू' कहा है उससे भी पता लगेगा कि यहां का ब्राह्मण प्रजा का सच्चा नेता है। भारतवर्ष में वर्तमान युग में गांधी जी का जो स्थान है यदि पाठक उसे ध्यान में रखें तो उन्हें इस सूक्त के ब्राह्मण की कल्पना ठीक ठीक आ जायगी। इस सूक्त का "ब्रह्मण" शब्द ठीक ऐसे ही सच्चे प्राजानेता के लिये आया है। आजकल प्रचलित हुये 'सत्याग्रही' शब्द में जो भाव है, प्राचीन ब्राह्मण शब्द में भी भाव वही है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ सत्य ज्ञान या अनुभव ज्ञान होता है। वेद भी ब्रह्म इसीलिये कहाता है क्योंकि यह सत्यज्ञान है। पर इसके साथ ही ब्रह्म शब्द का वैदिक अर्थ कर्म भी होता है। यास्कमुनी ब्रह्म का अथ कर्म भी करते हैं। इसी लिये ब्राह्मण शब्द में जो भाव समाया हुआ है वह यह है "सत्य ज्ञान को कर्म में परिणत

करने वाला"। इसलिये यदि हम कहीं कहीं अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये 'ब्राह्मण' या 'ब्रह्मा' का अर्थ सत्याग्रही ऐसा करेंगे तो यह उचित ही होगा। ब्राह्मण एक सत्याग्रही प्रजानेता है।

अब पाठक यह भी समझ जायेंगे कि ऐसे ब्राह्मण की वाणी कितनी बड़ी वस्तु है। ब्राह्मण में वाणी ही मुख्य चीज़ है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासति' पुरुष सूक्त का यह वाक्य प्रसिद्ध है। राष्ट्र-शरीर का मुख ब्राह्मण है—राष्ट्र ब्राह्मण द्वारा ही बोलता है। मनुष्य-शरीर में जो मुख है उसकी उपमा से विचारें तो हम देखेंगे कि मुख में पांचों ज्ञानेन्द्रिय हैं, और एक ही कर्मेन्द्रिय है जो वाणी है। अर्थात् ब्राह्मण को सब प्रकार से ज्ञान का उपार्जन करके जो कुछ कर्म करना है वह वाणी का ही है—ज्ञान को वाणी द्वारा प्रसार करना है। उसे राष्ट्र की सेवा शारीरिक बल या धन बल बढ़ाकर नहीं करनी है, किन्तु इन्हें त्याग कर उसे ज्ञान को (सर्वोच्च बल को) उत्पन्न कर उसे वाणी द्वारा फैलाना है। यह सर्वोच्च प्रकार की सेवा करने के कारण ही वह समाज में सर्वोच्च (सिर) बनता है। यह स्पष्ट है कि समाज में ज्ञान फैलाने, उपदेश देने का कर्तव्य और अधिकार भी ऐसे ब्राह्मण का ही है। तो यह भी स्पष्ट है कि किसी उपाय से ऐसे ब्राह्मण को सत्य उपदेश के देने से रोकना—उसकी

वाणी को बन्द करना—कितना भारी पाप है । इसलिए इस सूक्त में ब्राह्मण वाणी को रोकने की निन्दा बड़े कठोर शब्दों में की गई है । अस्तु—

अतः इस सूक्त का ठीक स्वाध्याय करने के लिये जो तीसरा कार्य हमें करना है वह यह है कि वर्तमान में ब्राह्मण कहलाने वालों को देख कर हमारे मनों में संस्कार ब्राह्मण शब्द के साथ बैठे हुए हैं उन्हें हम भूल जायें और यह समझ लें कि इस सूक्त में ब्राह्मण उपर्युक्त प्रकार का 'सच्चा' निःस्वार्थ, प्रजा-बन्धु, प्रजा का नेता" है ।

४—वैतहव्य कौन हैं ?

इस चौथी बात का विचार अर्थात् वैत-हव्य शब्द का अर्थ पता लगाना कुछ कठिन काम नहीं है । क्योंकि यह अप्रसिद्ध शब्द है अतः इसके साथ हमारे मनों में कोई अशुद्ध पूर्वसंस्कार नहीं बैठे हुए है जिन्हें कि हटाना पड़ेगा । इस लिये इनका ठीक अर्थ समझ लेने के लिये इसके धात्वर्थ पूर्वक शब्दार्थ जान लेने की ही ज़रूरत है ।

वीतहव्य शब्द से वैतहव्य शब्द बना है । वीतहव्य में दो पद है, वीत और हव्य या हविः । वीत का अर्थ है 'खा लिया, ख़तम कर दिया, व्यय कर दिया ।' 'वी खादने' या 'वि पूर्वक इण धातु' से यह शब्द बना है । तो वीतहव्य वह

हुआ (वीतं खादितं हविः हव्यं वा येन) जिससे हव्य (हवि) को खा लिया है। हव्य का मतलब हम समझते हैं। देवों का हिस्सा हव्य कहलाता है। यज्ञ में देवों के लिये अर्पण किये जाने वाले पदार्थ को हव्य कहते हैं यज्ञ के इस पदार्थ को खा जाना बड़ा पाप है। यह असुरों का ही काम समझा जाता है। इसलिये 'वीत-हव्य' वह पापी पुरुष होता है जो कि यज्ञ के हवनीय पदार्थ देवों के भाग) को उन्हें न पहुँचा कर स्वयं खा जाता है, अपने स्वार्थ में उसे खर्च कर डालता है।

परन्तु राष्ट्र के-प्रसङ्ग में वीतहव्य का क्या मतलब होगा यह समझने के लिये हमें ज़रा यह और सोचना चाहिये कि राष्ट्र यज्ञ में हवि क्या वस्तु होती है। राष्ट्र यज्ञ में हवि 'प्रजा से प्राप्त किया हुआ कर (Tax)" होता है। साधारण हवन में डाले जाने वाले घृत सामग्री को हवि क्यों कहते हैं? हवि, "हु दानादानयाः" धातु से बना है जिसका अर्थ है दान और आदान अर्थात् देना और लेना। यज्ञ में जो हवि डाली जाती है उसमें यह 'लेना और देना' होता है। यज्ञ में हम जो कुछ डालते हैं (दान करते हैं) यह सहस्र,' गुणित हो कर फिर हमें मिलता है (आदान होता)। यही हवन का महत्व है। इसी में हवि का हविपना है। इसी तरह राष्ट्र यज्ञ प्रजा की कर-रूपी हवि से चलता है। प्रजा

राजा को कर देती है (यह दान हुआ) और राजा (सरकार) उस प्राप्त 'कर' का ऐसी तरह सदुपयोग करता है जिससे प्रजा को उस कर के देने के बदले में उससे सैकड़ों गुना अधिक लाभ (आदान) होता है। कर (Tax) का यही सिद्धान्त है। कालिदास ने रघु राजा की कर-प्रणाली को सूर्य की उपमा देते हुए इसी सिद्धान्त पर आश्रित वर्णित किया है। उसने कहा है—

प्रजानां हि भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।

"प्रजा की समृद्धि के लिये ही वह प्रजा से कर ग्रहण करता था। रस को सूर्य ऊपर खींचता है कि वह उसे सहस्र गुणा कर के फिर बरसा दें।" अस्तु। तात्पर्य यह है कि राष्ट्र यज्ञ में हवि का अर्थ कर (Tax) है। वेद में कर (Tax) अर्थ में हवि शब्द का कहीं कहीं प्रयोग भी मिलता है। कर का वाची जो बलि शब्द है वह हवि का समानार्थक है यह तो स्पष्ट ही है। अतः वीतहव्य वह राजा (सरकार) है जो कि प्रजा से प्राप्त कर को खा जाता है; अपने स्वार्थ में व्यय कर देता है। वीतहव्य से 'वैतहव्याः बना है। वीतहव्य के जो हों वे 'वैतहव्याः' कहलावेंगे (वीतहव्यस्य इमे इति वैतहव्याः) अर्थात् आधुनिक रूप में बोलें तो वीतहव्य

सरकार के सब नौकर चाकर, सब कर्मचारी, सब सञ्चालक 'वैतहव्याः' हुए।

यहां भी सीधा कर या बली (टैक्स के लिये संस्कृत में ये दोनों प्रसिद्ध शब्द हैं) न कह कर, कर (Tax) लिये हव्य शब्द का प्रयोग करना कुछ विशेष अर्थ रखता है। हव्य खा जाना बड़ा पाप समझा जाता है। क्योंकि यज्ञ बहुत ही पवित्र और दिव्य वस्तु है। इसलिये किसी राजा का 'कर का दुरुपयोग करने वाल' ऐसा कहने की अपेक्षा 'राष्ट्र यज्ञ की हवी खा जनने वाला' ऐसा कहने में बहुत बल आ जाता है। अतः वीतबलि न कह यर वीतहव्य कहा है। राष्ट्र संचालन को भी पवित्र यज्ञ समझना (समझाना) वेद की. वेदिक सभ्यता की एक बड़ी विशेषता है।

आशा है कि पाठक 'वैतहव्या' का अर्थ भी समझ गये होगें।

५--इस सूक्त का विषय

इन मुख्य मुख्य शब्दों का विवेचन हो चुकने के बाद पाठक एक वार इस सूक्त का समुच्चयार्थ भी देख लें। इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय संक्षेप से इस प्रकार है—

मान लिजिये एक भोग-विलासी (मन्त्र २) राजा है। अतएव उसे धन की ज़रूरत होती है। वह 'धनकाम' हो

जाता है (मन्त्र ५) । उसके मन में पाप आता है । अतः वह 'वीतहव्य' हो जाता है, प्रजा से मिल कर के धन को स्वयं खाने लग जाता है (मन्त्र १०) । तब प्रजा पीड़ित होती है । प्रजा पर अत्याचार होने लगते हैं (मन्त्र १२) । ऐसे समय में प्रजा की रक्षा, सेवा के लिये प्रजा का नेता (ब्राह्मण) उठता है । उसके पास सिवाय वाणी के और क्या है । यह प्रजा वा राजा को सच्चा उपदेश करता है । परन्तु ऐसा राजा समझता है कि इस तुच्छ निःशस्त्र ब्राह्मण, और इसकी विचारी वाणी को तो मैं खा जाऊँगा, मज़े से नाश कर दूँगा । यह मेरा क्या बिगाड़ेगा । अतः वह उस ब्राह्मण को बोलने से रोक देता है । इस प्रकार उसकी वाणी-गौ का खातमा कर डालता है या कर डालने की सोचता है । ऐसी अवस्था में वेद का जो उपदेश है, वह इस सूक्त में वर्णित है ।

ऐसी अवस्था कभी किसी देश में किसी समय में थी उसका यहां उल्लेख है यह बात नहीं । दुनिया में ऐसी अवस्था आते रहना स्वाभाविक है । राजा, सरकारें वीत-हव्य हमेशा हो जाती हैं । यह एक नित्य इतिहास है । ऐसे अवसर पर राजा को और प्रजाजनों को क्या करना चाहिये इसे बतलाने के लिये वेद ने इस सूक्त (वल्कि इस अनुवाक द्वारा) उपदेश दिया है ।

इस सूक्त में बार बार नाना तरह से कहा है कि राजा ब्राह्मण-वाणी को तुच्छ चीज़ न समझे। इसका नाश न करे। यह बड़ी भयंकर वस्तु हो जाती है। राजा को बार बार सावधान किया है। इसकी ज़रूरत है। क्योंकि ब्राह्मण के पास हीन दर्जे का बल, क्षात्रबल, तोप, बन्दूक, मशीन-गन का बल नहीं होता। अतः हमेशा ख़तरा है कि कोई मूर्ख शासक (राजन्य) स्वार्थान्ध हो कर ब्राह्मण की सच्ची आवाज़ को अपने लिये हानिकारक समझ कर उसे अपने दुरुपयुक्त क्षात्रबल से दबा डाले। अतः बड़े घोर शब्दों में इसकी निन्दा की गई है। और बताया गया है कि ब्राह्मण का यह वाणी-रूपी हथियार कितना ज़बरदस्त है। यह सब राजशक्ति को परास्त कर देता है।

अस्तु; इसी कथा को अब पाठक वेद के हृदयग्राही सुन्दर शब्दों में पढ़ें। केवल इतना और कहना है कि इस वैदिक सूक्त को पढ़ने के बाद भी यदि पाठक इस प्रारम्भिक विवेचना को एक बार फिर पढ़ जायेंगे तो उन्हें इसमें कहीं बातों की सचाई अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

*
**

ओ३म्

ब्रह्मगवी-सूक्त

—:०:—

१

ब्राह्मण-वाणी रोकने योग्य नहीं है।

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्।

(नृपते !) हे राजा (ते देवाः) उन प्रसिद्ध देवताओं ने (एतां) ब्राह्मण की यह वाणी-गौ (तुभ्यं) तुझे (अत्तवे) खा डालने के लिये (न अददुः) नहीं दी थी। इसलिए (राजन्य) हे क्षत्र-शक्तियुक्त राजा ! तू (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (अनाद्यां) कभी भी न खाने योग्य या कभी भी

न खायी जा सकने वाली (गां) इस वाणी का (मा जिघत्सः) खातमा कर डालने की इच्छा मत कर।

इस मन्त्र में कहा है—ब्राह्मण की वाणी राजा को उन देवताओं ने दे रखी है। पर यह खा डालने के लिये उन्होंने नहीं दी है। ये प्रसिद्ध देवता कौन हैं, जिनका नाम भी लेने की आवश्यकता नहीं समझी गई है?

वेद के देवता—अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम आदि प्रसिद्ध ही हैं। देवाधिदेव परमात्मा हैं। इस जगत् पर उस परम-देव का अटल और पूर्ण-शासन है। वह एकदेव अपनी जिन भिन्न-भिन्न शक्तियों द्वारा जगत् का शासन कर रहा है, वे ही शक्तियाँ ये वेद की नाना देवतायें हैं। अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि परमात्मा की ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। मनुष्य राजा भी अपने छोटे से राष्ट्र पर अपनी अल्प-शक्ति के अनुसार अपूर्ण शासन करता है। मनुष्य राजा की शासन- विधि के भी अङ्गभूत बहुत से व्यक्ति होते हैं। राजा का अपने राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभागों (Departments) से वही सम्बंध होता है, जो कि परमात्मा का अग्नि वायु आदि देवताओं से है। इसी अर्थ में मनु ने राजा को सर्व-देवमय कहा है। मनुस्मृति के सप्तम अध्याय के ३ से ११ से तक के

श्लोक इस सम्बन्ध में पठनीय हैं। उनमें से दो श्लोक नीचे उद्धृत हैं—

> इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
> चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निहृत्य शाश्वतीः॥
> सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्
> स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥

इनमें कहा है—इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, सोम, कुवेर, इन आठ देवताओं से अंश लेकर राजा बनता है। राजा के आठों विभागों में शक्ति इन आठ देवताओं से आयी हुई है। शुक्र-नीतिसार के प्रथम अध्याय के ७१ से ८१ तक श्लोकों में इनकी व्याख्या है। ये ही प्रसिद्ध देवता हैं. जिन्होंने मनुष्य राजा को सब वस्तुएँ—सब शक्तियें—दी होती हैं। इन अग्नि, इन्द्रादि द्वारा जहां राजा को और बहुत-सी वस्तुयें राज्य करने को मिली होती हैं; वहाँ ब्राह्मण की वाणी (अर्थात् ब्राह्मण द्वारा प्रजा को उपदेश दिया जाना, शिक्षा मिलना, प्रजा को सन्मार्ग दिखाया जाना) यह भी एक बड़ी भारी वस्तु मिली होती है। ब्राह्मण की वाणी क्या, ब्राह्मण ही मिला होता है। ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व ही उसकी वाणी में है, वाणी द्वारा ही वह राष्ट्र की सेवा में आता है। वह ब्राह्मण-वाणी एक बड़ी महत्व की वस्तु देवताओं ने (या

यूँ कहना चाहिये, परमात्मा ने) राजा को दी होती है। पर यह खा डालने के लिये नहीं दी होती।*

अस्तु, पहले तो यहाँ राजा को वेद ने यह स्मरण दिलाया है कि यह ब्राह्मण-वाणी जैसी पवित्र वस्तु देवताओं की (परमात्मा की) दी हुई है। फिर यह स्मरण दिलाया है कि किस कार्य के लिये दी है। यह खा जाने को कदापि नहीं दी गई है, यह तो स्वाधीनतापूर्वक राष्ट्र में ज्ञान फैलावे, सन्मार्ग दिखला कर राष्ट्र का कल्याण करे इसलिये दी गई है। इस का पालन-पोषण करना चाहिये, इसे बढ़ाना चाहिये।

राजा को बहुत सी चीज़ खा डालने के लिये भी दी होती हैं। राजा में यम देवता का अंश खासतौर पर इसी लिये होता है। राजा का काम जहाँ अच्छाई को, राष्ट्रहित की वस्तुओं को उत्पन्न करना, बढ़ाना और फैलाना है, वहाँ राष्ट्र के लिये सब अनर्थकारी वस्तुओं को नाश करना, समाप्त करना भी है। सब बुराइयों को, अपराधों को,

* ज़रा पाठक यहाँ पर एक दृष्टि इस पर भी डालते चलें कि यदि यहाँ "गौ" गाय ही हो, तो इस कथन का कुछ मतलब नहीं बनता। राजा को कौन-सी गाय अग्नि आदि देवों ने दी होती है।

अशान्ति को, अव्यवस्था को, बलवान् द्वारा निर्बल के सताये जाने को, सब अन्याय को उसे नष्ट कर डालना चाहिये। इन सब चीज़ों को उसे यम बन कर खा जाना चाहिये। पर ब्राह्मण की वाणी ऐसी चीज़ नहीं है, जिसे कि नाश कर दिया जाय। यह देवों से मिली हुई वस्तु पालने-पोसने को मिली है। पाली-पोसी हुई यह वाणी गौ अपने पालने के बदले में इससे हज़ार गुणा प्रतिफल देकर राष्ट्र को निहाल कर देगी।

यह वाणी गौ 'अनाद्या' है—कभी भी नाश करने योग्य नहीं है। यह अनाद्या शब्द ही इस मन्त्र का मुख्य शब्द है। इस का अर्थ 'अत्तुमशक्या अर्थात् जिसका नाश नहीं किया जा सकता' ऐसा करना भी ठीक है। इस अर्थ का स्पष्टीकरण तो अगले मन्त्रों में स्वयमेव हो जायगा। यहां पर तो 'यह खाये जाने, नष्ट किये जाने के योग्य नहीं' इस अर्थ को समझ लेना चाहिये। जैसे गो 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) कहलाती है, वैसे ही यहां इसे 'अनाद्या' नाम से पुकारा है। ब्राह्मण-वाणी को रोकना, बाँधना, नाश करना बड़ा जघन्य पाप है, क्योंकि यह पालने योग्य वस्तु का नाश करना है, क्योंकि यह बड़ी गो-हत्या है, क्योंकि यह देवों की वस्तु का घोर दुरुपयोग करना है। वैसे तो वाणी-

मात्र ही 'अनाद्या' (अबन्धनीया) होती है। हर व्यक्ति को वाणी-स्वातन्त्र्य होना चाहिये। पर ब्राह्मण की तो वाणी ही मुख्य चीज़ है, जैसे पहिले स्पष्ट किया जा चुका है। अन्यों की वाणी तो अज्ञान के कारण व स्वार्थवश हानि भी कर सकती है। ज्ञानी, निःस्वार्थ ब्राह्मण की वाणी में तो कल्याण ही भरा होता है। इस वाणी की रक्षा में ही समाज की रक्षा है। अतः इस वाणी की रक्षा करना तो गाय पशु की रक्षा करने की अपेक्षा भी बहुत-बहुत आवश्यक है ब्राह्मण-वाणी के इशारे से लाखों गायों की रक्षा हो सकती है। इसीलिये इस सूक्त में ब्राह्मण-वाणी को बार-बार 'अनाद्या' विशेषण से से पुकारा गया है।

अब दूसरे मन्त्र द्वारा वेद यह स्पष्ट करता है कि वह कौन-सा राजा—किस तरह का राजा—होता है, जो कि इस अनाद्या को नाश करने का घोर कृत्य करने को उतारू होता है।

२

कैसा राजा ब्राह्मण-वाणी को रोकता है।

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यात् अद्य जीवानि मा श्वः ॥

(अक्षद्रुग्धः) इन्द्रियों से द्रोह को प्राप्त अर्थात् अजितेन्द्रिय (पापः) अतएव पापी (आत्म पराजितः) आत्मा से हारा हुआ या अपने आप पराजित हुआ हुआ (राजन्यः) जो राजा होता है (सः) वह ही (ब्राह्मणस्य गामद्यात्)

ब्राह्मण की वाणी को बन्द करता है। यद्यपि वह : अद्य जीवानि। आज बेशक जीवित है (मा श्वः) पर कल नहीं रहेगा।

जब कभी ऐसे पतित-व्यक्ति जो कि इन्द्रियों के दास होते हैं, राजपद पर पहुँच जाते हैं तो वे ही इस पालनीया ब्राह्मण-वाणी को नाश करने की जी में ठानते हैं। उन्हीं को सदा सत्य कहने वाली ब्राह्मण-वाणी अपने लिये हानिकर प्रतीत होती है। इस युग के महातेजस्वी ब्राह्मण – ऋषि दयानन्द—जहां कहीं जाते थे, अपनी सत्यपारायण वाणी से सब के हित का ही उपदेश करते थे। पर उनके सत्य-कथन से, जिनके क्षुद्र-स्वार्थों में—अन्ततः इन्द्रिय सुखों में—बाधा पड़ती थी, वे ऋषि को मारने तक को उद्यत हो जाते थे—उसकी वाणी का बन्द होना तो जरूर चाहते ही थे। एक बार एक अजितेन्द्रिय राजा को वेश्यागमन से मुक्त कराने की सदिच्छा से, जो उन्होंने अपनी ओजस्विनी वाणी का उपयोग किया, कहते हैं वही उनकी देहलीला-समाप्ति का कारण हुआ। किसी ने उन्हें कांच पिलाने का पाप कर डाला। मतलब यह कि जब राजा विलासी होता है तो सच्ची ब्रह्माण-वाणी को नही सह सकता और उसके मन में पाप का उदय होता है।

जो अजितेन्द्रिय कामी होता है वह पाप करने में जरूर पतित होता है। इसलिये इस मन्त्र में ऐसे राजा के लिये 'अल्पद्रुग्ध:' के बाद दूसरा विशेषण 'पाप:' कहा है। भगवद्-गीता के तृतीयाध्याय में जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा है कि मनुष्य में पाप क्यों प्रवृत्त होता है, तो उसका उत्तर श्रीकृष्ण भगवान् ने यही दिया है '**काम एष, क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः**,। काम के साथ क्रोध जुड़ा हुआ है। मनुष्य किसी में आसक्त हो कर (काम द्वारा) और उससे विरोधी वस्तु से भाग कर (क्रोध द्वारा) पाप करने को प्रवृत्त होता है।

काम क्रोध ही पाप के जनक हैं। काम और क्रोध का सूक्ष्म आभ्यन्तर रूप ही राग-द्वेष है। छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यक में एक सुन्दर कथा कही है। उसमें कहा है कि एक बार देवों और असुरों का युद्ध हुआ। देवों ने अपना उद्गाता क्रमशः सब इन्द्रियों को बनाया, पर सभी इन्द्रियों को असुरों ने पाप से युक्त कर दिया। क्यों पाप से युक्त कर दिया, इसका कारण यही हुआ कि उन सब में राग और द्वेष रहता है। केवल प्राण में राग-द्वेष न था, अतः प्राण को असुर पाप से विद्ध न कर सके। बल्कि उसके

मुक़ाबिले में टकरा कर उन सब का चकनाचूर हो गया। मतलब यह कि इन्द्रियों में जो राग-द्वेष हैं (जिनका स्थूल रूप काम और क्रोध हो जाता है) उसके कारण इन्द्रियों का दास जो होगा वह स्वभावतः पाप में प्रवृत्त होगा।

इसीलिये अजितेन्द्रिय राजा अपने इन्द्रियों के विषय में 'काम' के कारण और इसकी विरोधिनी, सत्य बोलने वाली ब्राह्मण-वाणी में 'क्रोध' के कारण क्यों न पाप में गिरेगा। फलतः ऐसा ही राजा ब्राह्मण की वाणी-गौ के घात करने तक का पाप कर डालता है।

इसका तीसरा विशेषण 'आत्मपराजितः' है अर्थात् वह अपने आप हारा हुआ होता ह। इसी के साथ ही "वह आज ज़िन्दा है पर कल न रहेगा" यह कह कर उसका निश्चित विनाश बतलाया है। इस 'विनाश' पर हमें कुछ गहराई में जाकर बिचार करना चाहिये, क्योंकि इस विचार द्वारा (पाठक देखेंगे) इस मन्त्र का एक गूढ़ भाव साफ़ हो जायगा।

भगवद्गीता के द्वितीयाध्याय में 'विनाश का मार्ग' बड़ी सुन्दरता और स्पष्टता के साथ वर्णित है। वे द्वितीयाध्याय क ६२ और ६३ श्लोक यहाँ बिना स्मरण आये नहीं रह सकते:—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते,
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः,
स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

इनमें विनाश का क्रम इस तरह वर्णित है। (१) मनुष्य पहिले विषयों का ध्यान करता है। (२) इससे उनमें उसका संग हो जाता है। (३) संग से उनके लिये 'काम' पैदा हो जाता है (४) इसके बाद उस काम की पूर्ति में उसे जो बाधा दिखाई पड़ती हैं उनके लिये उसमें 'क्रोध' पैदा होता है। (५) क्रोधी पुरुष में 'सम्मोह' आ जाता है (६) सम्मोह से वह अपने आपको भूल जाता है—स्मृतिविभ्रम हो जाता है। (७) इससे बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। (८) बुद्धिनाश के साथ ही उस पुरुष का विनाश हो जाता है। यहां विनाश का प्रारम्भ 'विषयों के ध्यान' से होता है और विनाश की पूर्ति 'बुद्धि-नाश' में होती है। इसी तरह इस मन्त्र में ऐसे राजा के विनाश का प्रारम्भ 'अक्षद्रोह' (अजितेन्द्रियता) से होता है—और इसकी समाप्ति 'आत्म-पराजय' में होती है। बीच के जो छः क्रम है उन्हें इस मन्त्र में पाप शब्द में कह दिया है।

अब इसी दृष्टि से इस वेद-मन्त्र में कहे विनाश-क्रम को भी जरा देखिये। 'अक्षद्रुग्ध' का शब्दार्थ "इन्द्रियों द्वारा द्रोह

को प्राप्त (अद्वैरिन्द्रियैर्द्रुग्धः" यह होता है । अजितेन्द्रिय पुरुषों में इन्द्रिय द्रोह कर देती हैं। ऐसा पुरुष इन्द्रियों की गुलामी तो इसलिये स्वीकार करता है जिससे कि उसे सुख मिले, परन्तु ये इन्द्रियां उसे सुखी कर देने के स्थान पर उसे और-और तृष्णा में डालती जाती हैं और इस तरह उसे अपना अधिक-अधिक गुलाम बनाती जाती हैं । यह धोखा देकर इन्द्रियाँ उसे ठग लेती हैं । इस मनुष्य-जीवन रूपी राज्य का असली राजा तो आत्मा है, और ये इन्द्रियाँ उस राज्य में सब से नीचे प्रकार की नौकर हैं। पर ये नौकर धोखा देकर मनुष्य को इस प्रकार सुख देने के बहाने जब ठग लेते हैं, तो इस आत्मा के राज्य में इन्द्रियों का द्रोह प्रारम्भ हो जाता है। यह राजविद्रोह बढ़ता-बढ़ता जब पूरा हो जाता है तो आत्मा का पराजय हो जाता है, और इन्द्रियाँ आत्मा को राजगद्दी से उतार स्वयं राजा बन बैठती हैं । उस समय मनुष्य 'आत्म-पराजित' कहलाता है । इन्द्रियाँ आत्मा के विरुद्ध राजद्रोह का झण्डा खड़ा करके बाहर के विषयों से 'संग करती हैं, बाहिरी शत्रु काम, क्रोध, सम्मोह (जो कि एक से एक बढ़ कर शत्रु है) को सहायता के लिये बुला लेती हैं और इनकी सहायता से आत्मा—राजा के अधिकारी सूक्ष्म प्राण, चित्त और मन को दबा लेती हैं—

अपने काबू में कर लेती हैं। तब स्मृतिविभ्रम की अवस्था आ जाती है अन्त में आत्मा के सबसे अधिक विश्वास-पात्र मन्त्री बुद्धि का भी जब पतन हो जाता है तब तो आत्मा का राज्य बिल्कुल समाप्त हो जाता है। 'बुद्धिनाशात प्रणश्यति।' आशा है कि पाठक 'अतग्द्रुधः' और 'आत्म-पराजितः' इन विशेषणों का भाव अब समझ गये होंगे।

तो फिर ऐसा (राजा कहलाने वाला) पुरुष जिसके कि अपने अन्दर आत्मा का राज्य खतम हो चुका है— इन्द्रियों का राजद्रोह सफल हो चुका है, ऐसा पुरुष राष्ट्र का शासन कैसे कर सकता है। उसमें राज्य करने की शक्ति रहती ही नहीं। इसीलिये वेद ने कहा है कि ऐसे राजा का निकट-भविष्य में ही अन्त निश्चित है। यद्यपि वह आज ऊपर से जीवित दिखाई देता है, पर असल में अन्दर से मर चुका होता है। इस लिये कल न रहेगा। आज जीवित इस लिये दीखता है क्योंकि हम लोग शरीर की दृष्टि से उसे देखते हैं। आत्मा को देख सकने वालों को वह आज ही मरा दिखाई देता है। अतएव वे ऐसे राजा से ज़रा भी भयभीत नहीं होते। पर शरीर (स्थूल) को देखने वाले साधारण लोग ऐसे (पापी, आत्म-पराजित भी) राजा की थोड़ी देर की फौजें, तोपें और सब बाहिरी

ठाठ देख कर उसके आतङ्क में (Prestige में) आ गे रहते हैं। ज़रा भी आगे की न देख सकने वाले इन लोगों को कौन विश्वास दिलावे कि—

"अद्य जीवानि मा श्वः"

'वह आज जीता है कल नहीं'

और बिना यह विश्वास मिले उन्हें ढाढस कैसे बँधे, भय कैसे जाये?

प्यारे अर्जुन को तो श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने योगैश्वर्य से मुँह खोलकर दिखा दिया था कि सारे कौरव—भीष्म, द्रोणादि सेनापतियों और ११ अक्षौहिणी सेना सहित सब कौरव—आज ही मरे पड़े हैं। पर हमें कौन विश्वास दिलाये? हम (क्षुद्र-वर्तमान में अपनी दृष्टि परिमित रख सकने वाले) जीव तो यों ही भय के मारे हुए पड़े हैं और अपने कर्तव्य से च्युत हुए रहते हैं। पर हम में भी यदि श्रद्धा हो तो यही वेद भगवान् का वचन हमारे लिये कृष्ण भगवान् का काम कर सकता है। 'अद्य जीवानि मा श्वः' इस वेद-वचन पर श्रद्धा जम जाय तो हमें सूर्य प्रकाश की तरह दीख जाय कि ब्राह्मण की वाणी-गौ घातक का राजा आज ही मरा हुआ है—मुर्दा है।

श्रीकृष्ण ने वह दृश्य दिखला कर अर्जुन से कहा गया था

कि ये सब मैंने मार डाले हैं, तू तो अब निमित्त-मात्र हो जा। इसी तरह, यद्यपि आगे ८ वें, ९ वें और ११ वें मन्त्र में कहा है यह ब्राह्मण-वाणी ही ऐसे राजा को मार डालती है पर असल में ब्राह्मण-वाणी तो निमित्त-मात्र ही होती है। यह सब का भला चाहने वाली ब्राह्मण वाणी तो किसी का नाश नहीं चाहती और न करती है, पर ऐसा राजा अपने-आप ही अपने को मार डालता है ऐसा कहना चाहिये। 'आत्म-पराजित:' शब्द का अर्थ यह बनता है कि जो अपने आप हारा हुआ है। उसे हराने व मारने के लिये ब्राह्मण को फौज आदि खड़ी करने की चिन्तायें नहीं करनी पड़तीं। उसका पाप ही उसे मार डालता है। उसने अपने अन्दर आत्मा को हार डाला होता है अतएव वह पहिले ही हार चुका होता है। उसके हार और विनाश का यह कारण समझ में आते ही भगवान् कृष्ण के निम्न वाक्य कानों में गूँजने लगते हैं—

> आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
> बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मैवात्मना जितः
> अनात्मानस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्।
>
> गीता ६-५, ६

३

रोकी गई ब्राह्मण-वाणी बड़ी भयंकर वस्तु है

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य! तृष्टैषा गौरनाद्या ॥

(एषा ब्राह्मणस्य अनाद्या गौः) ब्राह्मण की यह अनाशनीया वाणी (तृष्टा) जब प्यासी होती है अर्थात् बोलने की तीव्र इच्छा वाली होती है पर बोलना मिलता नहीं, रोकी गई होती है; तब (सा) वह वाणी (चर्मणा आवि-

ष्टिता) चमड़े से ढँकी हुई (पृदाकूः) सर्पिणी (इव) की तरह (अघविषा) भयंकर विष वाली हो जाती है।

यद्यपि ब्राह्मण वाणी बड़ी सरला, दयालु और परोपकारिणी होती है, किसी को हानि नहीं पहुँचाना चाहती; पर जब वह रोकी जाती है (प्यासी रखी जाती है) तब रोकने वाले राजा व सरकार के लिये यह कैसे हो जाती है यह बात इस मन्त्र में कही है। तब यह भयंकर विष वाली सर्पिणी के समान हो जाती है। ऊपर से तो सर्पिणी सुन्दर चमकीले चमड़े से ढकी होती है, एक निर्दोष प्राणी दिखाई देती है; पर उसके मुँह में घातक विष भरा होता है। यदि उसमें विष न हो तो सर्पिणी सबको बड़ी प्यारी और मनोहर चीज़ लगा करे। इसी तरह यह रोकी हुई ब्राह्मण-वाणी बड़ी सीधी और भोली वस्तु दिखती हुई भी ऐसे राजा और सरकार के लिए विष-पूर्ण हो जाती है। विष-पूर्ण कैसे हो जाती है यह ज़रा समझने योग्य बात है।

रोकने से विष पैदा होता ही है। न रोकने योग्य वस्तु के रोकने का यही परिणाम होता है। वायु को अपने कमरे में आने से बिलकुल रोक दो, वायु हमें कुछ नहीं कहेगी पर हमारा बन्द कमरा विषैला हो जायेगा, और

हमारी मृत्यु का कारण हो जायेगा। शरीर में रुधिर की गति को रोक दो, शरीर विषाक्त हो जायेगा। हैजे की बीमारी में मृत्यु इस लिये हो जाती है क्योंकि मूत्र रुक जाता है, मूत्र रुकने से शरीर में विष जमा हो जाता है। एक मूर्ख ऐसा सोच सकता है कि मूत्र एक तरह का पानी होता है, यदि वह शरीर में रोक रखा जाय (बाहर न निकलने दिया जाय) तो वह पानी हमारे शरीर का क्या बिगाड़ डालेगा। पर उसे यह मालूम नहीं कि इससे शरीर में विष जमा हो जायेगा, असल बात यह है कि पवित्रता करने वाली वस्तुएँ स्वतन्त्रता से बहने देनी चाहियें, वे कभी रोकने लायक़ नहीं होतीं। उनके रोकने से पवित्रता होनी बन्द हो जाती है, हमेशा बनते रहने वाला विष बाहिर नहीं निकल सकता। ब्राह्मण-वाणी भी ऐसी ही 'पावमानी' पवित्रता करने वाली वस्तु होती है। मूर्ख वा स्वार्थी राजा इसे अहित-कर समझ कर रोकता है, वह समझता है इस वाणी के चुप हो जाने से भला होगा, किन्तु होता यह है कि राष्ट्र में पवित्रता होते रहना बन्द हो जाता है। अब पाठक समझे होंगे कि रोकने से ब्राह्मण-वाणी विषैली कैसे हो जाती है और इसे सर्पिणी से उपमा क्यों दी गई है*।

* 'चर्मणाविष्टिता' का अर्थ यह भी हो सकता है कि कैंचुली से जो जुदा

स्वयं ब्राह्मण-वाणी में तो कभी भी विष नहीं आता, वह तो अमृत से भरी होती ह । किन्तु सामान्य जनता में जो स्वभावतः बदला लेने की इच्छा, क्रोध, हिंसा, द्वेष आदि विष होते हैं, वे सामान्यतया स्वतन्त्र, स्वाधीन ब्राह्मण-वाणी द्वारा निकाले जाते रहते हैं अतः राष्ट्र में विष नहीं जमा होने पाता । पर जब कोई मूर्ख राजा इस 'अनाद्या' 'पावमानी' स्वाधीन ब्राह्मण-वाणी को बाँध देता है, रोक देता है तो उसका परिणाम यह होता है कि जनता में ऐसे राजा के विरुद्ध द्वेष घृणा आदि विष जमा हो जाता है । अपने देश की वर्तमान अवस्था का ही दृष्टान्त लें, प्रायः सब यह अनुभव करते हैं कि महात्मा गान्धी की वाणी कितना अधिक विष दूर करने का काम करती है । सरकार के कई समझदार उच्चाधिकारी भी यह बात समझते हैं कि गांधी का बोलना रोकने की अपेक्षा उसे बोलने देना अच्छा है । यह इसी लिये कि वास्तव में ब्राह्मण-वाणी पवित्रताकारक वस्तु है उसका तो काम ही सब प्रकार का विष दूर करना है । वह राजा-प्रजा सब में से विष दूर करने की तीव्र इच्छा वाली होती है ।

हुई है । कहते हैं कि जब शर्पिणी केंचुनी छोड़ चुकती हैं उस समय यह विशेष विषैली होती है ।

इस मन्त्र में 'तृष्टा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इसका मूल अर्थ 'तीव्र इच्छा वाली' ऐसा होता है। वाणी की इच्छा तो बोलने की ही होती है अतः इसका अर्थ हमने किया है "जो बोलना चाहती है पर बोलना मिलता नहीं।" पर 'तृष' धातु एक खास इच्छा में—पीने की इच्छा में—रूढ़ हो गई है। इसी रूढ़ि अर्थ में बोलें तो 'तृष्टा' का अर्थ है 'प्यासी'। ब्राह्मण-वाणी राष्ट्र में विष दूर करने के लिये प्यासी रहती है। जैसे जब हमें प्यास लगती है तो इसका मतलब यह होता है कि शरीर में कोई ऐसे विष जमा हो गये हैं जिन्हें शरीर अपने प्रसिद्ध पवित्रता-कारक साधन (पानी) द्वारा निकालना चाहता है, उसी तरह ब्राह्मण-वाणी राष्ट्र में से (राजा और प्रजा सब में से) जब विष निकालने की तीव्र इच्छा वाली होती है तभी वह बोलना चाहती है, प्यासी* होती है। पर यदि तब राष्ट्र का मूर्ख राजा (कड़वी बात सुनना न चाहता हुआ) उसे बोलने नहीं देता, प्यासी रखता है तो इस द्वारा राष्ट्र शरीर में घोर विष जमा न हो जायेगा तो और क्या होगा।

* इस मन्त्र में यदि 'गौ' का अर्थ गाय पशु हो तो उसका विशेषण-भूत 'तृष्टा' शब्द का विशेष, संगत अभिप्राय हो सकता है यह पाठक ही विचार लें। ग्रिफथ ने यहाँ 'तृष्टा' का अर्थ बुरे स्वाद वाली ऐसा न जाने कैसे किया है।

यदि कोई आदमी हवा के साथ आने वाली गरमी वा सर्दी के डर से वायु को बिल्कुल ही बन्द करने का प्रबन्ध करने लगे तो जैसे उसका कोई हितैषी उसे समझावेगा कि "यह तो तू आत्म-घात करने लगा है यदि वायु बिल्कुल ही बन्द हो जायेगी तो तू कुछ मिनटों में हीं मर जायेगा। सर्दी या गर्मी से डर के हवा बन्द करना तो बिच्छू से भाग कर साँप के मुँह में पड़ना है। गर्मी या सर्दी को यथाशक्ति सहो, पर वायु का आना बिल्कुल बन्द न कर दो………", वैसे ही यहाँ 'वेद' ने राजा को उस के हित के लिये इसके भयंकर परिणाम दिखला कर समझाया है।

४

यह वाणी सब में आग लगा देती है।

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो विदुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य॥

रोकी गई ब्राह्मण की वाणी (वै क्षत्रं निःनयति) राष्ट्र में से क्षत्र को निकाल देती है (वर्चः हन्ति) तेज का नाश कर देती है और (आरब्धः अग्निः इव) सुलगाई हुई आग की तरह (सर्वं वि दुनोति) सब कुछ जलाने लगती है। इसलिए (यः ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते) जो राजा

ब्राह्मण को खा जाने की चीज़ समझता है (स: तैमातस्य विषस्य पिबति) वह घोला हुआ विष पीता है या सांप का विष पीता है।

बहुत से वैद्य और रोगी शरीर में से निकलना चाहते हुए वात, पित्त आदि दोषों के अंशों को, या विजातीय द्रव्यों (Foreign matter) को औषधि के सेवन द्वारा या अन्य अप्राकृतिक उपचारों द्वारा दबा देने का यत्न किया करते हैं। पर ऐसे दबा देने का फल केवल इतना होता है कि वे उस रूप में नहीं निकल सकते तो दूसरे किसी रूप में फूट पड़ते हैं। यही बात ब्राह्मण-वाणी को दबा देने से होती है। राजा यदि ब्राह्मण-वाणी को बोलने नहीं देता, दबाता है तो यह भी अन्य रूप में फूट निकलती है। वाणी को (अन्दर के भाव के प्रकाशन को) सर्वथा रोका नहीं जा सकता है, यह 'अनाद्या' है, 'अबन्धनीया' है। वाणी की आवाज़ को रोकने से या लेखन आदि द्वारा जो वाणी का प्रकाश होता है, उसे रोक देने से यह रुक नहीं जाती (जैसा हम आगे देखेंगे असली वाणी तो मानस वाणी है)। किन्तु जैसे वात, पित्त, कफ कुपित हो जाते हैं, विकृत हो जाते हैं, रोग लक्षणों के रूप में प्रगट होते हैं; वैसे ही ब्राह्मण

वाणी भी विकृत कुपित हो जाती है, विकृत रूप में फूट निकलती है ।

अभी छठे मन्त्र में हम देखेंगे कि ब्राह्मण-वाणी अग्नि-रूप होती है । वही अग्नि-रूप वाणी जब रोकी जाने के कारण विकृत हो जाती है तो विकृत अग्नि का रूप धारण कर लेती है । शरीर का ही दृष्टान्त ल तो हम जानते हैं कि शरीर में शुद्ध, अविकृत अग्नि सदा रहती है, जिसके कारण हमारा शरीर कायम रहता है । भोजन के ठीक पचन आदि क्रियाओं द्वारा यह अग्नि सदा उत्पन्न होती रहती है और नाना तरह से अन्न का पचाना आदि शारीरिक कार्यों में व्यय होती रहती है तथा शरीर को स्वस्थ,

रखती है । पर यही अग्नि जब विकृत हो जाती है तो शरीर में ज्वर (बुखार) को उत्पन्न कर देती है । तब सब शरीर जलने लगता है, शरीर का सब कार्य-सञ्चालन बिगड़ जाता है, शरीर निर्बल हो जाता है, सहन शक्ति जाती रहती है, चित्त में उत्साह नहीं रहता, मन मुरझा जाता है, भूख बन्द हो जाती है या प्यास बहुत लगने लगती है इत्यादि बहुत से उपद्रव खड़े हो जाते हैं । यही हाल राष्ट्र में तब होता है जब कि राष्ट्र शरीर की अग्नि (ब्राह्मण वाणी) रुकने के कारण विकृत रूप में प्रगट होती है । राष्ट्र उस

समय उपतप्त हो जाता है। ('दु-उपतापे' इस धातु से 'दुनोति' शब्द बना है,) मानों ज्वर चढ़ जाता है, सब राष्ट्र में आग लग जाती है। जैसे एक चिनगारी से सारे में आग फैल जाय, वैसे ही रोकी गई ब्राह्मण-वाणी से रुकते हुए (अतएव अधूरे) निकले हुए उस राजा या राजप्रणाली के विरुद्ध विचार विकृत रूप में राष्ट्र में फैल जाते हैं. उसके कार्यों के प्रति उत्तजना वा रोष फैल जाता है। राष्ट्र में विचारों की एक अनियन्त्रित क्रान्ति हो जाती है, सब कुछ जलने लगता है। बुरी बातों के साथ २ बहुत सी अच्छी बातें भी नष्ट कर दी जाती है। 'अग्निरिवारब्धो विदुनोति सर्वम्'।

ब्राह्मण-वाणी को रोकने का परिणाम केवल इतना ही नहीं होता किन्तु जैसे बुख़ार चढ़ जाने पर शरीर की शक्ति निकल जाती है, शरीर निर्बल हो जाती है वैसे ही राष्ट्र शरीर में भी जब इस ब्राह्मण-वाणी के कुपित हो जाने से राज्य के विरुद्ध उत्तेजना की अग्नि लग जाती है; तब राष्ट्र का क्षत्र, क्षात्र बल (जो कि क्षत से त्राण करने वाला राष्ट्र का बल होता है) निकल जाता है। उस राजा या सरकार के प्रति जनता का विरोध जितना तीव्र होता है उतनी ही मात्रा में उसका 'क्षत्र' नष्ट हो जाता है। बहुत से क्षत्रिय

लोग उस सरकार की सेवा करनी छोड़ देते हैं और जो थोड़े से क्षत्रिय सेवा करते हैं प्रजा उनके क़ाबू में नहीं रहती। मतलब यह कि अराजकता आ जाती है। तब के विरुद्ध प्रजा यहां तक खड़ी हो सकती है कि राजा को गद्दी से उतार दे या सरकार को बदल दे; जैसे पुराने समय में वेणु राजा को गद्दी से उतार दिया था, जैसे कि इङ्गलैण्ड में चार्लस प्रथम और फ्रांस में लुई १६ वें को सूली पर चढ़ा दिया गया था, और जैसे अभी रूस की प्रजा अपने ज़ार का अन्त बुरी तरह करके चुकी है।

प्रारम्भ में यह क्षत्र का होता हुआ नाश स्पष्टतया दिखाई नहीं देता। चारपाई पर ही पड़े रहने पर बहुत बार बुख़ार के बीमार को भी अपनी शक्ति के ह्रास का देर तक पता नहीं लगता, पर जब कभी वह बैठने वा चलने का यत्न करे और गिर पड़े तब पता लगता है कि वह कितना निर्बल हो गया है। इसी तरह ऐसे विप्लवित राष्ट्र पर जब कोई परराष्ट्र आक्रमण करे या कुछ और घटना हो तब वह राष्ट्र खड़ा नहीं रह सकता, क्योंकि उस समय के राजा के साथ प्रजा की सहानुभूति न रहने से देशवासी उस सरकार का साथ नहीं देते। तब राजा को पता लगता है कि वह कितना निर्क्षत्र हो गया है। और राष्ट्र को ऐसी निर्क्षत्र-

अवस्था में तब तक रहना पड़ता है जब तक कि वहां नया शासन स्थापित नहीं हो जाता। ब्राह्मण-वाणी के रोकने का यहां तक दुष्परिणाम होता है।

और जैसे बुखार की कृत्रिम गर्मी चढ़ने पर मनुष्य का स्वाभाविक तेज क्षीण हो जाता है वैसे ही उस अवांछित राज्य के विरुद्ध आन्दोलन की अग्नि भड़क उठने पर उस राज्य का आतंक उठ जाता है, उसका तेज (Prestige) मिट जाता है। और कई बार मनुष्य की निस्तेजस्कता बुखार उतर जाने पर स्पष्ट दीखती है बुखार के समय नहीं; वैसे ही ऐसे शासन का तेजोनाश भी संसार में कभी कभी कुछ देर बाद प्रगट होता है।

क्षत्र के साथ ही क्षत्र का तेज रहता है। क्षत्र के नाश के साथ तेज भी नष्ट हो जाता है यह स्वाभाविक है। उस समय जहां बाहर के राष्ट्र उस पर विश्वास नहीं करते, उससे मैत्री नहीं चाहते परन्तु उसे दबाने की चेष्टा करते हैं; वहा उसके अन्दर भी ज्यों ज्यों यह क्षत्र और तेज अधिक अधिक नष्ट होता जाता है त्यों त्यों यह अग्नि और भड़कती जाती है। जो सामान्य लोग पहिले राज्य के आतंक के कारण डरे रहते थे वे भी अब राज्य-शक्ति के ह्रास के कारण खुल्लमखुल्ला विरोधी में सम्मिलित

होने लगते हैं। इस तरह यह अग्नि प्रचण्ड रूप धारण करती जाती है जब तक कि प्रजाविरोधी शासन का बिलकुल स्वाहा नहीं कर देती*।

राष्ट्र पर यह सब आपत्ति ब्राह्मण वाणी को रोकने से आती है। यदि उसे रोका न जाय बल्कि उसे सुना जाय तो राजा और प्रजा दोनों का लाभ हो। राजा उसे सुन कर या शुद्ध हो जाय या शासन छोड़ दे; प्रजा को भी इतना कष्ट न हो। सच्चे ब्राह्मणों की वाणी में सदा तेज होता है स्वाभाविक अग्नि होती है, क्योंकि वे बिलकुल निःस्वार्थ तपस्वी होते हैं। यद्यपि साधारण लोग तो ब्राह्मण-वाणी की शक्ति का तभी अनुभव करते हैं जब कि इस द्वारा किसी विकृत आग को देश में भड़कती देखते हैं (जैसे कि हम लोग देह की अग्नि को बुख़ार चढ़ने पर ही स्पष्ट देखते हैं), पर ब्राह्मण की वाणी रूपी अग्नि तो यदि वह रोकी न जाय तो निरन्तर ही चुपचाप बढ़ा भारी काम करती रहती है। इस वाणी के तेज से जो राष्ट्र में शान्त क्रान्ति हो जाती है उसमें राजा और प्रजा दोनों का कल्याण होता है। अत:

* पाठक यह इन सब मन्त्रों में देखते जायें कि यदि यहां गाय का ही वर्णन ठीक हो तो ये अर्थ कहां तक संगत होते हैं।

ब्राह्मण-वाणी कभी रोकनी नहीं चाहिए । यदि रोकी जायगी तो वह दूसरे रूप में फूट कर निकलेगी ।

इसके बाद इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में जो कुछ कहा है वह स्पष्ट ही है । राजा ब्राह्मण को*अन्न (खा जाने की चीज़) समझता है वह घोला हुआ विष पीता है । घोला हुआ विष जल्दी असर करता है । अन्य साधारण लोगों की वाणी रोकना भी विषपान है, पर ब्राह्मण की वाणी का रोकना घोला हुआ* (तैमात) विष पीना है । ब्राह्मण-वाणी का प्रभाव भी सब पर और एक दम होता है ।

यों कहना चाहिए कि जैसे कोई अज्ञानी विष खाता हुआ यह समझे कि मैं भोज्य अन्न खा रहा हूँ, इससे मेरी

---

*यह तो यहां दुहराने की ज़रूरत नहीं कि इस मन्त्र में तथा अगले मन्त्र में जो ब्राह्मण को खा जाने की बात कही है, उसे तो कोई भी रुढ़ि अर्थ में लेकर 'चबा जाना' ऐसा मतलब नहीं निकलेगा? तो इसी तरह जहां साथ के मन्त्रों में ब्राह्मण की जगह ब्राह्मण-वाणी के खा जाने की बात आई है, वहां भी उसका अर्थ मुंह में चबा कर पेट में ले जाना यह नहीं है । अतः खा जाने का शब्द आ जाने से ही गौ का अर्थ भी 'गाय' न समझ लेना चाहिए ।

*"तिमि "क्लेदने" से तैमात शब्द बना है ।

पुष्टि होगी। वैसे ही मूर्खता का काम वह राजा कर रहा होता है, जो कि ब्राह्मण को (प्रजा के सच्चे नेता को) दबाने, मारने, नाश करने में, अपनी पुष्टि—अपने शासन (Government) की पुष्टि—समझता है।

५

ऐसे राजा को अन्दर या बाहिर कहीं भी शान्ति नहीं मिलती ।

य एन हन्ति मृदुं मन्यमानं

देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।

सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध

उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥

(यः) जो (देवपीयुः) दैव भाव का नाशक (धनकामः) धनलोभी राजा (न चित्तात्) नासमझी के कारण (मृदुं मन्यमानः एनं हन्ति) इस ब्राह्मण को कोमल, दुर्बल समझ

कर हनन करता है, (तस्य हृदये) उस राजा के हृदय में (इन्द्रः) इन्द्र (अग्निं सं इन्धे) आग जला देता है, और (एवं चरन्तं) जब यह चलता है—या आचरण करता है, काम करता हुआ होता है तब (उभे नभसी) द्यौ और पृथिवी दोनों ही—अर्थात इन लोकों में स्थित सब देवता (द्विष्टः) इससे द्वेष करते हैं।

पिछले मंत्र में कहा है ऐजा राजा मूर्खता से नासमझी से विष को अन्न समझता है—ब्राह्मण के पीड़न को अपना घातक समझने की जगह अपना पोषक समझता है। पर यह ना समझी (न चित्तात्) उस में क्यों आती है ? इसका हेतु है 'धन काम'। उसे धन की इच्छा होती है। उसे धन की क्यों इच्छा होती है ? क्यों कि वह 'देवपीयु' होता है। 'देवपीयु' का अर्थ पाठक पहिले समझ लें। यह शब्द अगले मन्त्रों में भी प्रयुक्त होगा और १३ वें मन्त्र में तो वह मुख्य शब्द होगा 'देवपीयु' का अर्थ है देवों का हिंसक। देवपीयु वह राजा होता है जो अपने राज्य में, अपने शासन में देव भावों को नष्ट कर देता है। जैसे पहिले कहा है कि इस जगत् पर देवाधिदेव परमात्मा अपने अग्नि आदि देवों द्वारा अटल और पूर्ण शासन कर रहे हैं। जैसे ये

भगवान् के राज्य के पदाधिकारी देवता लोग बिल्कुल निःस्वार्थ हो कर पूर्णता के साथ अटल नियमों में बँधे हुए शासन करते हैं वैसा ही जिस मनुष्य--राजा का शासन होता है, अर्थात् उन्हीं नियमों का यथाशक्ति अनुसरण जहाँ होता है वह शासन 'दैव-शासन' कहा जा सकता है, पर जो राजा अपने शासन में अपना कर्तव्य छोड़ कर स्वार्थरत हो जाता है, उस राज्य में दैव-भाव मारा जाता है, और आसुर भाव आ जाता है। ऐसे राजा को वेद में 'देव पीयु' कहा है। संक्षेप में, अपना कर्तव्य न पालन करने वाले अर्थात् प्रजा पीड़क स्वार्थी राजा का नाम 'देवपीयु' है।

ऐसा स्वार्थी, प्रजा के प्रति अपना कुछ कर्तव्य न समझने वाला, प्रजा का कुछ ध्यान न रखने वाला राजा 'अत्त द्रुग्ध' हो जाता है, विलासी, विषयी हो जाता है। अपने इन विषयों का ही सदा ध्यान करते करते उसमें उन विषयों की पूर्त्ति में साधन-भूत दीखने वाले 'धन' के प्रति 'काम' पैदा हो जाता है। उसे धन की तीव्र इच्छा हो जाती है। यह इच्छा इतनी अन्धी हो जाती है कि इस इच्छा के सामने उसे और कुछ नहीं सूझता। जिस किसी तरह धन मिले केवल यही बात उसे सूझती है अन्य किसी

तरफ उसका ध्यान नहीं जाता। जब 'धन काम' के कारण वह इतना अन्धा हो जाता है—गीता के शब्दों में कहें तो 'काम' के कारण 'संमुग्ध' और स्मृति-भ्रष्ट हो जाता है, तब वह ब्राह्मण को 'मृदु'—दुर्बल—समझता है, इसे खा जाना बड़ा आसान और निरापद समझता है।

ऐसे राजा की आन्तरिक अवस्था कैसी होती है इस बात का वर्णन इस मन्त्र में है। इसमें कहा है कि इन्द्र उसके हृदय में अग्नि जला देता है और दोनों लोक आकाश और पृथ्वी उसे चलते हुए को द्वेष करते हैं। वह जब ठहरता है, अकेला होता है तब तो उसके अन्दर इन्द्र द्वारा जलाई आग इसे तपाती है, और वह जब चलता है—लोगों के साथ सम्पर्क में आता हुआ काम में लगा होता है तो ऊपर नीचे सब संसार उसे कोसता सा है। अर्थात् न अकेला होने में और नाहीं काम में लगे रहने पर, कभी भी उसे शान्ति नहीं मिलती। अकेले में उसे चिन्ता की अग्नि या पश्चात्ताप की अग्नि जलाने लगती है—अन्तःकरण उसे काटता है—(अन्तःकरण का वासी उसका आत्मा 'इन्द्र' उसे जलाता है); तो इससे बचने के लिए यदि वह बाह्य कार्यों में लग जाता है और दुनिया से मिलता है तो वहाँ भी उसे अपनी निन्दा सुनाई देती है या अपने प्रति घृणा के भाव दिखलायी

देते हैं। लोगों में उसके प्रति घृणा के भाव आ चुके होते हैं और वे किसी न किसी प्रकार प्रकट होते ही हैं। एवं अन्दर-बाहर उसे कहीं चैन नहीं मिलता।

असल में बाहिर जो कुछ है सब अन्दर की ही छाया है। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि से संसार में दो ही चीज़े होती हैं (i) आत्मा (Self)=स्व=अन्दर और (ii अनात्म(Not Self) =पर=बाहिर। सब अनात्म (बाहिर) प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसके 'आत्म' अन्दर ही की प्रतिकृति होता है। व्यक्ति में 'आत्म' (अन्दर) का केन्द्रस्थान हृदय है। हृदय में सब संसार मौजूद है। यह ही इन्द्र का (आत्मा और परमात्मा का) स्थान है। अतएव इस 'आत्म' (अन्दर) का वर्णन इस मन्त्र में "हृदय में इन्द्र आग जलाता है" इस तरह किया है, और शेष सब जगत् (अनात्मा) को इस मन्त्र में 'उभे नभसी' शब्द से कहा है। ऐसे 'देवपीयु' राजा ने अपने अन्दर (आत्म) में देवों का नाश किया होता है अतएव वह बाहिर (सब संसार) के सब देव उससे द्वेष करते हैं—प्रतिकूल होते हैं। इसलिये अब उस राजा का सुधार भी अन्दर से ही हो सकता है, अतएव 'इन्द्र' * (उसका आत्म या परमात्मदेव) उसके

* यहां परमात्मा को ख़ास इन्द्र रूप से क्यों स्मरण किया है इसका स्पष्टिकरण पाठक अग्रिम मन्त्र की व्याख्या में देखेंगे।

अन्दर के केन्द्र-स्थान हृदय में पश्चात्ताप या दुःख की अग्नि जला देते हैं, जिससे कि पीड़ित होकर वह अपने पहिले के अन्दर के 'आत्म-राज्य' की महिमा को समझे—अपने में देवों का राज्य फिर से स्थापित करे। बाहिर जो सब जगत् उससे द्वेष करता है उसको देख कर भी उसे यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि वह 'देव-पीयु' की जगह देव बन्धु बन जाय, अपना क्षुद्र स्वर्थ छोड़ कर प्रजा-पालन के कर्तव्य में अपना स्वार्थ समझे।

पाठक यहां यह देखें कि यहां पर ऐसे राजा को 'प्रजा-पीयु' कहने की जगह 'देव-पीयु' कहा है और 'सब प्रजा उससे द्वेष करती है' इसकी जगह 'दोनों लोक अर्थात् सब देवता उससे द्वेष करते हैं' ऐसा कहा है। सब जगत् को देवमय देखने की वेद की शैली है। वैदिक वायुमण्डल में रहने वाले की सर्वत्र देव-भावना हो जाती है। प्रजा के जितने मनुष्य हैं वे सब देव हैं ऐसा राजा समझे वेद में "पञ्चजन" नाम से इस प्रजादेवता की स्तुति की गई है। अतः प्रजद्रोह 'देवद्रोह' है। अधिक ठीक शब्दों में कहें तो प्रजाद्रोह 'देवद्रोह' इसलिये है क्योंकि वह राजा प्रजा का पीड़न करता है, केवल प्रजारूपी देवता के प्रति पाप नहीं करता अपितु वह देवों के प्रति (परमात्मा के

प्रति) पाप करता है। वेद में इस उच्चाशय से उसे 'प्रजा-पीयु' की जगह 'देवपीयु' शब्द से पुकारा है। इसी तरह प्रजारूप देवता उसके विरुद्ध हो जाती है इतना ही नहीं किन्तु जगत् के सब लोकों के देवता इसके विरुद्ध हो जाते हैं, क्योंकि वह प्रजापीड़न कर जगत् के (परमात्मा के) नियमों का भंग करता है। जैसे ब्राह्मण की वाणी देवों ने राजा को दी है। (देखो मन्त्र १) वैसे ही प्रजा भी पालन के लिए देवों ने (परम देव परमात्मा ने) दे रखी है। अतः यह केवल प्रजा-देवता के प्रति पाप नहीं, किन्तु परम देवता परमात्मा के प्रति भी पाप है। पाठकों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

इसके विपरीत जो उपर्युक्त प्रकार का ब्राह्मण है उसके प्रजा अनुकूल होती है इतना ही न कह कर वेद अपने अगले मन्त्र में यह कहेगा कि सब देवता उसके अनुकूल होते हैं और इन देवों की अनुकूलता के कारण ब्राह्मण असहाय, दुर्बल, 'मृदु' नहीं होता जैसा कि 'देवपीयु' राजा उसे समझता है, किन्तु वह तो सब देवताओं की महती शक्ति से सुरक्षित होता है अतएव महाबली होता है। यह बात अब पाठक अगले मन्त्र में देखें

६

ब्राह्मण स्वयं अग्नि रूप है और उसके सहायक सब देवता हैं

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥

(प्रियतनोः अग्निः इव ब्राह्मणः न हिंसितव्यः) प्यारे शरीर की अग्नि की तरह ब्राह्मण होता है अतः उसकी हिंसा नहीं करनी चाहिए । (अस्य) इस ब्राह्मण का (सोमः हि)

सोमरूप जगदीश्वर (दायादः) सम्बन्धी है और (इन्द्रः) इन्द्ररूप परमेश्वर (अभिशस्तिपाः) हिंसा से बचानेवाला है।

ब्राह्मण की हिंसा इसलिए नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करना आत्मघात करना है। सब को अपना शरीर प्यारा होता है। उसमें जो गर्मी है, प्राण है, जान है वही शरीर को प्यारा बनाती है। गर्मी निकल जाती है तो शरीर मुर्दा हो जाता है। जैसे शरीर में इस अग्नि को ठंडा कर देना आत्मघात कर लेना है, वैसे ही ब्राह्मण को मारना राष्ट्रीय आत्मघात करना है। क्योंकि ब्राह्मण प्यारे राष्ट्रीय शरीर की अग्नि होता है।

इस मन्त्र में पहली बात यह कही है कि ब्राह्मण अग्नि है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण का अग्नि से सम्बन्ध सुप्रसिद्ध है। जहां विराट् पुरुष के मुख से आधिभौतिक क्षेत्र में ब्राह्मण पैदा हुआ है [ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्], वहां आधिदैविक क्षेत्र में इस पुरुष के मुख से अग्नि पैदा हुई है [मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च], और आध्यात्मिक क्षेत्र में वही अग्नि वाक् (वाणी) हुआ है [अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत् देवताओं का जहां वर्णविभाग कहा है वहां भी अग्नि देवता ब्राह्मण है। इस प्रकार अग्नि, ब्राह्मण और वाणी का परस्पर

सम्बन्ध—इनका एकत्व—वैदिक साहित्य में माना गया है। इसके बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं। यहां तात्पर्य इतना है कि शरीर की अग्नि के नाश के समान ब्राह्मण नाश करना भी आत्मघात है।

इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दूसरी बात यह कही है कि सोम ब्राह्मण का दायाद है और इन्द्र इसको हिंसा से बचाने वाला है। इसलिए इसे असहाय-दुर्बल-नहीं समझना चाहिये। इस के साथी दो बड़े बड़े देवता हैं। साधारण लोगों को इतना जानना पर्य्याप्त है कि सोम और इन्द्र ये दोनों परमात्मा के ही दो नाम हैं जो कि दो भिन्न-भिन्न शक्तियों की दृष्टि से दिये गये हैं। अभिप्राय यह कि सब जगत् का एक मात्र राजा परमात्मा उस ब्राह्मण का इन दो रूपों से रक्षक होता है। परन्तु विचारक सज्जनों को इस सूक्ष्मता में भी जाना चाहिये कि 'सोम' और 'इन्द्र' परमात्मा की किन शक्तियों का नाम है, और ये 'अग्नि' के साथ 'दायाद' और 'रक्षक' के सम्बन्ध से क्योंकर हैं ?

इस सम्पूर्ण सूक्त में अग्नि, सोम और इन्द्र इन तीन देवताओं ही का नाम दो-तीन जगह आया है, जगदीश्वर की जगत् में काम करती हुई तीन प्रधान शक्तियों की दृष्टि से इन तीन नामों से (तीन देवों के रूप में) परमात्मा को इस

सूक्त में देखा गया है। इन्हीं तीनों में शेष सब देवता समा जाते हैं। यह त्रिदेवत्व (Trinity) सब धर्मों में प्रसिद्ध है।

पाठक निम्न लिखित कोष्टक को जरा ध्यान से देख लें।

ब्रह्म		क्षत्र
१ अग्नि अग्रणीर्भवति	सोम सुनोतेः	इन्द्र
२ उन्नति (वृद्धि)	स्थिरता (पुष्टि)	इन्दच्छत्रूणां दारयिता
३ ब्रह्मा (उत्पत्ति)	विष्णु (स्थिति)	रक्षा [शत्रुनाशन]
४ Progress	Permanance	महेश (संहार)
५ Legislature (व्यवस्था)	Judicial [न्याय]	Protection Executive (शासन)
६ पिङ्गला	इडा	सुषुम्ना
७ पित्त	कफ	वात
८ नाभि	शिर	हृदय

इस कोष्टक की पहिली तीन संख्यायें इन देवों के सामान्य सम्बन्ध को बताती हैं। ४, ५ संख्या में तीनों देव आधिभौतिक क्षेत्र में (समाज व राष्ट्र में) जिस एक विशेष रूप में प्रकट होते हैं वह दिखाया है। एवं ६, ७, ८ संख्यायें इन देवों के रूप को वैयक्तिक शरीर में दिखलाती हैं।

पहिले हम अग्नि और सोम के परस्पर सम्बन्ध को विचारें। "अग्निसोमौ" यह अग्नि और सोम का द्वन्द्व जगत् में प्रसिद्ध है। अग्नि उन्नति, वृद्धि का द्योतक है तो अग्नि द्वारा जो कुछ उन्नति हुई है उसे स्थिर करना, पुष्ट करना 'सोम' का काम है। अग्नि 'अग्रणी' अर्थात् आगे ले जाने वाला होता है, सोम उसमें रस भर देता है। केवल अग्नि और केवल सोम अपर्य्याप्त होते हैं। ये दोनों मिलकर ही जीवन को चलाते हैं। एक दूसरे के ये पूरक (Complimentary) हैं। उन्नति-आगे बढ़ना भी होना चाहिए, और उन्नति में स्थिरता भी आनी चाहिए। अग्नि की वृद्धि को सोम पुष्ट करता है, अतएव अग्नि का सोम दायाद है—उसके दिये हुये (दाय) का ग्रहण (आदान) करता है (दायम् आदत्ते इति दायादः)। इनका यह परस्पर दायाद सम्बन्ध पाठक समझे होंगे।

तत्ववेत्ता मिल ने शासन (Governmeut) का उद्देश्य Progress और Permanance इन दो शब्दों में बताया है। राष्ट्र को उन्नत करना और उसकी उन्नति को स्थिर और पुष्ट करना। पर ये दोनों बातें आन्तरिक कल्याण को बताती हैं। यदि बाहर का जगत् बिलकुल न हो तब तो इन दो बातों में सब उद्देश्य आ जाय, पर ऐसा नहीं है।

अन्दर की उन्नति में बाहर से बाधा पड़ सकती है। तब इन दो में 'मित्र' की तीसरी चीज Protection (रक्षण) मिलती है। पहिली दोनों मिल कर एक वस्तु होती है, इस एक 'अग्निषोमो' के साथ में दूसरा 'इन्द्र' होकर यह एक और द्वन्द्व बनता है। राष्ट्र में (आज-कल के शब्दों में) इस द्वन्द्व को क़ानूनी (Civil) और फ़ौजी (Military) कह सकते है। वेद में ये ब्रह्म और क्षत्र कहलाते हैं। Civil (ब्राह्म) में Progress और Permanance दोनों आ जाते हैं—व्यवस्था और न्याय दोनों आ जाते हैं। इन्द्र का अर्थ 'इन्दन् शत्रूणां दारयिता' यास्क-मुनि ने किया है। ऐश्वर्य करता हुआ शत्रु का नाश करने वाला देवता इन्द्र है। व्यवस्था (Legislature) [जिसका कि पति ब्राह्मण होता है] को राष्ट्र में न्याय होते रहने से स्थिरता प्राप्त होती है, व्यवस्था राष्ट्र में क़ायम रहती है। परन्तु क्योंकि मनुष्य में एक ऐसा तत्त्व भी होता है, जो कि अपने बनाये नियमों के पालने में-न्याय कराने में—स्वयं प्रवृत्त नहीं होता या इसका विरोध शत्रुता तक करता है, अतएव न्याय को कार्य्यान्वित करने के लिये इन्द्र (क्षत्र) Executive की जरूरत होती है।

जगत् में ये तीनों देव प्रसिद्ध पौराणिक त्रिदेव 'ब्रह्मा-विष्णु और महेश' नाम से कहे जा सकते हैं।

इस मन्त्र में "प्रियतनोरिव" कह कर वैयक्तिक शरीर की उपमा दी गई है अतः हमें आध्यत्मिक में भी इन तीनों देवों का रूप देख लेना चाहिये। योग विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में दांई तरफ पिंगला नाम की मुख्य नाड़ी है (इसे सूर्य भी कहते हैं) जो कि उन्नति और गति में प्रभाव करती है, बांई तरफ 'इडा' नाडी है (इसे चन्द्र भी कहते हैं) जो कि स्थिरता लाती है। इन दोनों के बीच में दोनों को मिलाने वाली सुषुम्ना नाडी है इसी तरह आयुर्वेद की दृष्टि से पित्त और कफ का द्वन्द और इन दोनों-का संचालक 'वात' प्रसिद्ध है। मतलब यह है कि शरीर में भी ये अग्नि सोम और इन्द्र तीनों देव काम कर रहे हैं। अग्नि शारीरिक जीवन को उत्पन्न करती है, शरीर में उष्णता रूप में प्राण-जीवन लाती है, सोम रस पैदा करता हुआ उस उष्णता को प्रतितुलित रखकर इस जीवन को शरीर में स्थिर रखता है और इन दोनों से प्राप्त जीवन की रक्षा करता है। शरीर में इन्द्र वह शक्ति है जो कि स्वभावतः शरीर को रोगों से लड़ाती है। शरीर में जो यह प्रकृति है कि वह रोगों को हटाने का प्रयत्न अन्तिम समय तक करता रहता है वही इन्द्रशक्ति है। भौतिक शरीर में इन तीनों देवों का स्थान योग-विज्ञान के अनुसार इस प्रकार है। अग्नि नाभि में

रहती है (यही वाणी का मूल स्थान है), इस के मुक़ाबले में ऊपर सिर में अधोमुख 'सोम' है। ये दोनों आपस में क्रिया प्रतिक्रिया करते रहते हैं। पर इन दोनों के मध्य में शरीर के केन्द्र (मुख्य) स्थान पर—इन्द्रदेव रहता है, यहां से सब शरीर का कार्य सञ्चालन करता है। इसी लिये गत मन्त्र में कहा था कि इन्द्र हृदय में आग जला देता है। हृदय इन्द्र का स्थान है और दण्ड देकर सुधारना उसका काम है।

इन तीन देवों का स्वरूप और सम्बन्ध कुछ विस्तार से इस लिये लिखा है क्योंकि यह १३ वें मन्त्र के समझने में भी काम आवेगा।

अब पाठक परमात्मा के अग्नि, सोम और इन्द्र इन तीनों शक्तियों का चित्र अपनी आँखों के सामने ला सकते होंगे कि वे कैसे सब जगत् में सब जगह काम कर रही हैं। इनमें से अग्नि (उन्नति के देवता) का प्रतिनिधि ब्राह्मण होता है। और क्योंकि यह ब्राह्मण देवपीयू नहीं होता (किन्तु देवबन्धु होता है) अर्थात् इन देवों के (जगत् के) सत्य-मियमों के अनुकूल ही चलता हुआ परमात्मा की अग्निशक्ति का सच्चा प्रतिनिधि बनने का सदा यत्न करता है, अतएव परमात्मा की सोमशक्ति उसका दायाद हो जाती है, उसकी

सोची हुई हर एक उन्नति को पोषित करने के लिये—स्थिर करने के लिये—तैयार रहती है, एवं परमात्मा की इन्द्र शक्ति उन के कार्य में आने वाली हर एक बाधा को दूर करने के लिये तैयार रहती है। इस प्रकार परमात्मा की अनन्त शक्ति न तीनों रूपों में सच्चे ब्राह्मण की सहायता कर रही होती है। तात्पर्य यह हुआ चूंकि वह अपने को परमात्मा के अग्नि रूप का सच्चा उपासक बनाता है, तो परमात्मा का सोमरूप और इन्द्ररूप भी उसका सदा साथ देता है। एवं परमात्मा की अनन्त शक्ति उस की पृष्टपोषक हो जाती हैं।

७

निगल तो जाता है, पर हज़म नहीं कर सकता

शतापाष्ठां निगिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥

(यः मल्वः) जो अपनी धारणा-शक्ति का अभिमान करने वाला राजा (ब्रह्मणां अन्नं स्वादु अद्मि इति मन्यते) ब्राह्मणों को [सताता हुआ] मैं स्वादु अन्न खा रहा हूँ ऐसा

समझता है वह (शतापाष्ठां) सैकड़ों आपदों से भरी हुई इस वस्तु को (निगिरति) निगल तो जाता है पर (निःखिदन् न शक्नोति) इसे हजम नहीं कर सकता।

धारण करने का या सब कुछ हजम कर जाने का अभिमान करने वाला, उपर्युक्त प्रकार का राजा ब्राह्मण को सताता है और इस सताने में मजा लेता है। जब उसकी आज्ञा से ये ब्राह्मण* सत्याग्रही सताये जा रहे होते हैं, जेल में भेजे जा रहे होते हैं, इनका माल असबाब जब्त किया जारहा होता है या उन्हें पीटा जाता है तो इस सब को देख कर वह प्रसन्न होता है, वह समझता है कि मैं इस प्रकार मजे से ब्राह्मणों को खतम किये देता हूँ, मेरा अच्छा शिकार हो रहा है, मुझे मजेदार स्वादु भोजन

---

* 'ब्राह्मण और ब्रह्मन्' शब्द पर्यायवाची है। अभी तक के मन्त्रों में ब्राह्मण शब्द ही आया था, पर इस ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग हुआ है और यह शब्द भी बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। एकवचनान्त 'ब्राह्मण' या 'ब्रह्मा' शब्द का इस सूक्त में आशय (जैसे कि प्रारम्भिक विवेचना में हम देख आये हैं) "सत्याग्रही प्रजानेता" है तो ब्रह्माणः (जिसकी षष्ठी 'ब्रह्मणाम' है) इस बहुवचनान्त का अर्थ "ब्रह्मन् लोग" अर्थात् उस सत्याग्रही नेता के "सत्याग्रही सिपाही" ऐसा समझना चाहिये।

मिल रहा है। पर वेद राजा को बतलाना चाहता है कि यह ब्राह्मण को खाना स्वादु भोजन नहीं है किन्तु सैकड़ों आपदों का समूह है। निगलने में चाहे यह स्वादु लगता है, पर पेट में जाकर हजम नहीं हो सकता इसलिये पेट में पहुँच कर तो सैकड़ों उपद्रव खड़े कर देगा।

ऐसा राजा अपने को बड़ा धारण करने वाला अर्थात् हजम करने वाला 'मल्व'* समझता है, पर ब्राह्मण को सता कर वह इसे हजम नहीं कर सकता। जैसे कोई मनुष्य जीभ को स्वाद लगने वाली कुछ ऊटपटांग अभक्ष्य चीज़ खा जाय तो वह पेट में शूल पैदा कर देवे (इस शूल के इलाज के लिए कोई तीव्र औषधि खा लेने पर) उसके सारे शरीर में फोड़ा फुन्सी निकल आवें, वमन तथा दस्त लग जायँ या हिचकी बंध जाय व वह पगला हो जाय; वैसे ही जब सत्याग्रही ब्राह्मण सताये जा रहे होते हैं तब वे बदले में राजा को कुछ सताते तो हैं नहीं, सब कुछ सहते जाते हैं अतएव तब तक राजा इस घटना का स्वाद लेता है पर पीछे से उनके इन बलिदानों से जब देश में उत्तेजना फैल जाती है नाना उपद्रव हो जाते हैं तो उन्हें वह सम्भाल नहीं सकता। उसकी हालत उपर्युक्त प्रकार के रोगी की सी बड़ी

* "मल मल्ल धारणे" इस धातु से 'मल्व' शब्द बना है।

बेचैनी की हो जाती है जिसे एक तरफ दस्त लग रहे हों, पेट में असह्य दर्द भी हो, वमन भी होता हो, सिर में चक्कर आते हों। क्योंकि उसके विरुद्ध अति उत्तेजित हुए लोग सरकारी स्थानों को नष्ट करने या राजकर्मचारियों को छिप कर वा सामने हत्या करने तक के घोर कृत्य करने को तैयार हो जाते हैं, यदि वह इन्हें किसी तरह दबा देता है तो दूसरी तरफ़ सत्याग्रहियों के प्रभाव में आकर कहीं की सेना विद्रोह कर देता है. तो कहीं के नौकर हड़ताल कर देते हैं. कहीं से खबर आती है कि इतने कर्मचारियों ने इस्तीफ़े दे दिये हैं, कहीं हज़ारों सत्याग्रही जेलों को इतना भर देते हैं कि जेलों में जगह ही नहीं रहती, उनको खिलाने को रुपया नहीं रहता; कहीं किसान कर देना बन्द कर देते हैं; यह सैकड़ों उपद्रव खड़े हो जाते हैं। इस तरह वह राजा सत्याग्रहियों कोसताना शुरू तो कर देता है, पर इसे हज़म नहीं कर सकता।

हज़म कैसे करे ? हज़म करने वाली अग्नि को ही वह दबा देता है। पिछले मन्त्र में बतलाया ही है कि राष्ट्र-शरीर की अग्नि ब्राह्मण है । जठराग्नि मारी जाय तो भोजन कैसे पचे ? असली बात यह है कि राजा जिन-जिन बातों को हज़म करता है, वह सब लोकमत

के बल पर करता है। अच्छा राजा राष्ट्र में बड़े बड़े उलट-फेर करने में भी समर्थ होता है, क्योंकि उनके अनुकूल लोकमत होता है । लोकमत को बतानेवाली ब्राह्मण की वाणी होती है । यही अग्नि है जिससे कि प्रजा-पालक राजा बड़े-बड़े कठोर काम करके भी उन्हें हज़म कर लेते हैं; राष्ट्र में कुछ आंदोलन नहीं मचाता, बल्कि पूरी सहानुभूति होती है । वे इस प्रकार कठोर भोजन को भी पचा लेते हैं और प्रजा को लगातार कठोर शासन (DisciPline) में रखकर राष्ट्र को तेज़ी से उन्नत करते हैं। पर जिसने इस अग्नि को दबा दिया हो उस बिचारे की क्या गति होगी ?

८

ब्राह्मण किस धनुष से देवपीयु का नाश करता है

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्,
नाड़ीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून,
हृद्बलै र्धनुभि र्देवजूतैः ॥

जिस धनुष में (जिह्वा ज्या भवति) जीभ डोरी [प्रत्यंचा] होती है, (वाक् कुल्मलं) उच्चारित शब्द बाणदण्ड होता है, (नाढीकाः दन्ताः) नाडियाँ (ज्ञानत

न्तु) वाणाग्र (व ण के दांत) होते हैं, [तपता अभि-दिग्धाः] जोकि दांत (आग की जगह) तप से तीक्ष्णीकृत होते हैं [तेभिः] ऐसे उस [देवजूतः] देवों से प्रेरित हृद्बलैः धनुभिः] हृदयबल रूपी धनुष से [ब्रह्मा] ब्राह्मण (प्रजा-नेता सत्याग्रही) [देवपीयून] देव-द्रोही प्रजापीडक राज्याधिकारियों को [विध्यति] वेध करता है।

पाठकों को यह मन्त्र विशेष मनन करना चाहिये। यह इस सूक्त का मुख्य मन्त्र है। पीड़ित प्रजा के पास जो अस्त्र होता है वह इस में बतलाया है। इस धनुप का स्वरूप हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। यह ब्राह्मण का वाणी-रूपी धनुष है।

इस में जीभ डोरी का काम देती है। जीभ से निकलता हुआ शब्द वाण होता है। वाण की नोंक (दांत) जोकि चुभती हैं प्राणनाड़ियाँ हैं। और जैसे आम-तौर पर बाण की नोकें विषदिग्ध (विष में बुझीं) या अग्निदिग्ध (आग में तपा कर तेज़ की हुई) होती हैं, वैसे ये वाणी-धनुष के वाणाग्र 'तप' (कष्ट सहन) से तेज़ किये हुए होते हैं। धनुष की डोरी तो बतला दी, शेष जो धनुर्दण्ड है वह हृदय का बल है। यह धनुष ब्राह्मण के हृदय में बसने

वाले देवों से(देव से) प्रेरित, सञ्चालित होता है। इस धनुष से प्रजा-नेता ब्राह्मण प्रजा-द्रोही देवपीयू अधिकारियों को बेधता है। इस अलंकार को पाठक साथ में लगे चित्र द्वारा भी अपने हृदय में अङ्कित कर लें।

इस रूपक को ठीक तरह समझने के लिये अर्थात् यह समझने के लिये कि वाणी द्वारा यह शत्रु का वेधक कैसे होता है, हमें ज़रा वाणी के स्वरूप को ठीक तरह जान लेना चाहिये। वाणी के स्वरूप और सामर्थ्य के विषय में यदि हमारे विचार और संस्कार ठीक हो जाँयगे तो वेद के इस रूपक को हृदयंगत करना हमारे लिये आसान हो जायगा।

(i) वाणी का स्वरूप

साधारणतया हम लोग ऐसा समझते हैं कि 'जीभ से शब्दोच्चारण करना' यही वाणी का स्वरूप है; और वाणी का सामर्थ्य इतना समझते हैं कि इसके द्वारा हम अपना ज्ञान दूसरे तक पहुँचा देते हैं। पर असल में वाणी इस से अधिक गहरी और इससे अधिक विस्तृत वस्तु है। वेद में 'वाक्' देवता और संस्कृत साहित्य का 'वाणी' शब्द गहराई में और विस्तार में दोनों प्रकार से अधिक व्यापक अर्थ रखता है।

ऐसे राजा को अन्दर या बाहिर कहीं भी शान्ति नहीं मिलती।

पहिले गहराई की दृष्टि से देखें तो, हमारे यहाँ वाणी का प्रारम्भ जीभ से नहीं होता किन्तु इस का मूल मूलाधार में है। जीभ में तो वाणी का सब से मोटा, सब से परिमित-तम रूप प्रकट होता है। जीभ तक पहुँचने तक तो असली वाणी चार क़दम चल कर परिमित हो चुकी होती है। वाणी निम्न चार क़दमों (क्रमों) द्वारा अपने स्थूल रूप में पहुँचती है। अतएव 'चतुष्पदा' कहलाती है। इसके प्रत्येक पाद को ऋषियों ने भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा है। मूलाधार में रहने वाली वाणी 'परा' कहलाती है। इस वाणी में ज्ञान का कोई आकार या प्रकार नहीं होता, अतएव यहाँ सब ज्ञान अपरिमित और सामान्य रूप से (निर्विशेष निराकार रूप में) रहता है। एक क़दम आगे चल कर वाणी में ज्ञान का प्रकार तो आ जाता है सामान्य की जगह विशेष ज्ञान बन जाता है, पर उसका आकार कुछ नहीं होता। इस "पश्यन्ती" वाणी कहते हैं। इस का स्थान नाभि है। तीसरे क्रम में यह हृदय में पहुँचती है, यहाँ इसका नाम 'मध्यमा" वाणी है या मानस वाणी है। वहाँ पर ज्ञान एक प्रकार के आकार से भी परिमित हो जाता है अर्थात् ज्ञान भाषा का सूक्ष्म शरीर धारण कर लेता है। मन में जब हम विचार करते हैं तब भाषा का

प्रयोग कर रहे होते हैं—मन मन में शब्द, पद, वाक्य बनते हैं। ये शब्द, पद, वाक्य उच्च ध्वनि में नहीं होते, पर मन-मन में बड़े वेग से बोले जाते हैं। यहां हम शब्द संकेत का उपयोग का प्रारम्भ करते हैं। पहिली दो वाणियों "परा" और 'पश्यन्ती' तो आकार-रहित होती हैं अतः उन के रूप को हम अच्छी तरह समझ भी नहीं सकते, किन्तु इस तीसरी वाणी (मध्यमावाणी) को हम समझ सकते हैं। वेद में इस वाणी पर बहुत विचार किया गया मिलता है। इस के बाद चौथी वाणी जो वैखरी' कहलाती है वह प्रसिद्ध वाणी है जोकि जीभ द्वारा ध्वनि (आवाज़) रूप म बोली जाती है। वाणी का मूल हृदय में है। इस बात को हम आसानी से समझ सकते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि हृदय में पहिले विचार होता है उसे हम फिर जीभ से बोल देते हैं। पर असल वाणी का स्थान हृदय में (मध्य स्थान में) भी नहीं अपितु और अधिक नीचे मूलाधार स्थान पर है। सब वाणी वहीं से उठती है। वहीं पर वाणी की विस्तृत और दृढ़ जड़ है।

यह तो बात गहराई की हुई, विस्तार में भी वाणी शब्दोच्चारण मात्र नहीं है। शब्द-संकेत (भषा) का उपयोग हम केवल बोलने में ही नहीं किन्तु लिखने में भी

करते हैं। लिपि के आविष्कार से और अब छापेखाने के आविष्कार से वाणी का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। बोला हुआ ही नहीं किन्तु सब लिखा हुआ भी वाणी है। (सब Press और Platform वाणी हैं)। लिखा हुआ भी अक्षरों में ही नहीं किन्तु सब आलेखन, चित्र व्यङ्गचित्र ये भी वाणी है। इसी तरह बोलने में भी केवल वर्णों का बोलना नहीं, किन्तु हंसना, रोना, गाना, बजाना, सीटी बजाना आदि ध्वनियां वाणी हैं। सब इशारे, झण्डियों के संकेत, नाचना, याख्याता का हाथ मारना, प्रदर्शन करना यह सब वाणी हैं। जिस किसी भी प्रकार से हम अपना अभिप्राय प्रकट करते है वही वाणी है। कई बार 'मौन' हो जाना बहुत ही बड़ी वाणी होती है, बड़े भारी अभिप्राय का प्रकाशक होती है। मुख की नाना आकृतियाँ, आखों का रङ्ग बदलना भी वाणी का काम करता है। चुपचाप कुछ करना भी वाणी हो जाता है, अस्तु।

पुराने लोग पिछली वाणियों को संग्रह कर रखने के लिये अपने अन्दर की स्मृतिशक्ति का उपयोग किया करते थे। वेद-वेदाङ्ग इसी तरह रक्षित रखे गये हैं। पर आजकल हम छापेखाने द्वारा वाणी को स्थिर रखने का काम लेते हैं। बल्कि ग्रामोफोन द्वारा ध्वनिमय वाणी का भी स्थिर करने

का ढङ्ग हमने निकाल लिया है। इसी तरह वाणी को बड़ी जल्दी एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के लिये भी आज-कल टेलीफोन, तार, बेतार का तार आदि अविष्कारों को करके हमने वाणी के उपयोग को बहुत ही अधिक बढ़ा दिया है। दिन में कई बार निकलने वाले अखबारों का और विज्ञापन बाज़ी का एक विज्ञान बन गया है।

(ii) वाणी की शक्ति

पर वाणी का जो यह आज-कल विस्तार हुआ है, उससे वाणी की सामर्थ्य बढ़ गई है यह बात नहीं है। सामर्थ्य तो उल्टा घट गई है। वाणी शक्ति कितनी कैसी है यह तो हम आज लगभगग भूल गये हैं। यह वाणी की शक्ति हमें ठीक तरह समझलेनी चाहिये, क्योंकि हम तभी वाणी का अस्त्रत्व (अस्त्रपना) समझ सकेंगे। आज-कल वाणी का सामर्थ्य विस्तार में (प्रचार में) समझा जाता है। अपने शत्रु के विरुद्ध खूब प्रचार (Propaganda) करना भारी हथियार माना जाता है। पर असल में वाणी की गहराई में जो महान शक्ति है उसके मुक़ाबिले में यह विस्तार का बल कुछ भी नहीं हैं। जैसे कि आकर्णान्त खींच कर चलाया गया तीर दूर तक प्रहार करता है, वैसे इसकी वाणी जितनी गहराई से निकाली होती है उतनी ही अधिक

प्रभावशालिनी होती है। हम जब कहते हैं 'वह सच्चे दिल से बोलता है" 'उसके अन्तस्तल से (From the bottom of his heart) निकले ये शब्द हैं' तो हम इसी सत्य को प्रकट कर रहे होते हैं कि सचाई से कहे गये कथन में, बल होता है। हृदय की गहराई और कुछ चीज़ नहीं है, यह 'सचाई' है। हृदय जितना सच्चा होगा, जितना शुद्ध होगा उतना ही बलवान् होगा। हृदयबल को इस मन्त्र में धनुष कहा है तो इसका मतलब है 'शुद्ध और सच्चा हृदय।' इस गहराई में भी आगे कुछ और चीज़ है यह भी हम स्वीकार सा करते हैं जब कि हम बोलते हैं 'यह उसकी आत्मा से निकलती हुई आवाज़ है।' हृदय तक की मानसिक वाणी का तो हम कुछ अनुभव करते हैं, पर नाभि और मूलाधार की 'पश्यन्ती' और 'परा' का अनुभव साधारण लोगों के लिये कठिन है। पर यदि हम इसी शुद्धता और सच्चाई को अपने मन में और अधिक-अधिक लावें तो हमें इस 'पश्यन्ती' से उठी वाणी और 'परा' से उठी वाणी का भी अनुभव हो सकता है। यही सच्ची आत्मा की आवाज़ होती है। इस मन्त्र में इसे 'देवजूतैः' शब्द से कहा है। जो वाणी देवों से प्रेरित हुई है वह पश्यन्ती से उठी है, और जो परम-देव (परमात्मा) से प्रेरित है

वह परा वाणी है। देव का अर्थ देवता है, पर अन्त में तो परमात्मा ही एक देव है। हमारी वाणी पश्यन्ती से उठे या परा से उठे इसका एक मात्र साधन यह है कि हमारा हृदय शुद्ध हो अर्थात् सत्यमय हो, उसमें असत्य के मेल का, असत्य की बाधा का, लवलेश न हो।

'सत्येन पन्था विततो देवयानः'

'यह देवयान (देवों के गमन) का मार्ग सत्य से ही बना हुआ है।' इसीलिये यदि हम हृदय में देवों को बसाना चाहते हैं—देवयान के पथिक है (जिससे हमारी वाणी पश्यन्ती व परा की गहराई से निकले) तो हमें सत्य का सेवन करना चाहिये। सत्य, सत्य, केवल सत्य। वाणी की सब शक्ति सत्य में ही निहित है। वाणी की असली शक्ति को पतञ्जली मुनि जानते थे, जिन्होंने कहा है—

'सत्य-प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'

और व्यास मुनि जी जानते थे जिन्होंने इस योग सूत्र का अर्थ करते हुए कहा है कि जो मनुष्य अपने में सत्य को प्रतिष्ठित करता है उसकी वाणी में यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह जो कुछ कहता है वह पूरा हो जाता है।

'धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः; स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति, अमोघास्य वाग्भवतीति।'

ऐसे राजा को अन्दर या बाहिर कहीं भी शान्ति नहीं मिलती।

अर्थात् ऐसा आदमी यदि किसी को कहता है कि 'तू धार्मिक हो जा' तो यह क्रिया हो जाती है वह मनुष्य सचमुच धार्मिक हो जाता है, वह यदि किसी को कहता है 'स्वर्ग को प्राप्त हो जा' तो यह फल उसे मिल जाता है वह स्वर्ग को प्राप्त हो जाता है। मतलब यह कि 'अमोघा अस्य वाग्भवति' उसकी वाणी अमोघ हो जाती है, वह कुछ कहे और वह पूरा न हो यह हो नहीं सकता। सत्यमय वाणी की इतनी शक्ति है। ज़रा पाठक इसे सोचें, विचारें, इसे हृदय में सम्भालें।

हम लोगों में असत्य इतना घुसा हुआ है कि हमें तो पतञ्जली तथा व्यास ऋषि के इस कथन पर विश्वास आना कठिन होगा। परन्तु यदि हम सत्य पर विश्वास न करें तो सचाई का कुछ नहीं बिगड़ेगा, हमारा ही बिगड़ेगा। सत्यबाणी में तो यह शक्ति है कि उससे जो बोला जायगा, वह तुरन्त पूरा हो जायगा। हम यदि सत्य की तरफ देवयान मार्ग पर बढ़ेंगे तो हमें इस सत्य की सचाई का पता लगता जायगा। आजकल के महासत्यनिष्ठ गान्धी जब ऐसी बात कहते हैं।

'भारतवर्ष में आज एक भी पूरा सच्चा पुरुष हो तो वह भारतवर्ष को आज ही स्वराज्य दिला सकता है; क्योंकि

वह जो कुछ कहेगा उसे लोगों को उसके वाणी के तेज के कारण मानना पड़ेगा।'

तो यह पतञ्जलि मुनि के कथन को ही अपनी भाषा में और अपनी परिस्थति के अनुसार कहना है। अर्थात् इस सत्य का अनुभव गांधी भी करते थे क्योंकि वे स्वयं बड़े सत्यनिष्ठ थे।

अतः प्यारे भाइयो ! वाणी की शक्ति उसकी गहराई में है, उसके देवप्रेरित होने में है। प्रचार (Propaganda) में नहीं है, झूठे Propaganda में तो बिलकुल नहीं है। यह मत भूलें कि इस जगत पर अन्तिम शासन तो परमदेव का है जो कि सत्य-स्वरूप है। उसके राज्याधिकारी अग्नि आदि देव सत्यमय अटल नियमों से जगत् का शासन कर रहे हैं। वेद में इन नियमों को 'ऋत' शब्द से पुकारा गया है। 'ऋत' का अर्थ भी सत्य है। देवताओं का वेद में जगह-जगह 'ऋतावृधः' (सत्य को बढ़ाने वाले), 'ऋतावानः' (सत्यमय) आदि विशेषणों से वर्णन किया गया है इस लिये इस संसार पर तो सत्य का ही राज्य है। जो लोग सत्य का आश्रय लेते हैं उन्हें तो उस ब्रह्माण्डाधिपति की अनन्त-शक्ति का सहारा मिला होता है, उनका कोई बाल बांका नहीं कर सकता है। पर जो सत्य का

सहारा छोड़ते हैं उन्हें जगत्पति का द्रोह करके—उसके 'ऋत' नियमों का उलङ्घन करके—कैसे सफलता मिल सकती है ? इसलिए उठो ! असत्य से क्षणिक सहायता मिलती देखकर भ्रम में मत पड़ो। अनुभवी ऋषियों के वचनों पर विश्वास करो। सब समयों के सन्तों ने सत्य की इस महिमा को अनुभव किया है। सत्यमय वाणी का सचमुच ऐसा ही महान् सामर्थ्य है। उसके सामने कोई 'प्रोपेगण्डा' नहीं ठहर सकता।

वाणी तो सब जगत को हिलानेवाली शक्ति है। हम समझते हैं कि वाणी का काम केवल दूसरों तक ज्ञान और विचार पहुँचाना है। किन्तु असल में 'शक्तिरूप ज्ञान' पहुँचाना है ऐसा कहना चाहिये। क्योंकि ज्ञान (विचार) संसार को चलानेवाली एक महाशक्ति है और इस महाशक्ति को भी एक जगह से दूसरी जगह ले जाने वाली शक्ति यह वाणीशक्ति है। अतः वाणी ही सब जगत को चलाने वाली शक्ति है। इसलिए वेद में 'वागाम्भृणी' सूक्त में (जिसमें वाणी का बड़ा ही उदात्त प्रभावशाली आत्मवर्णन है) परमात्मा की परावाणी ने कहा है—

'मुझ में ही सब देवताओं का वास है। मैं सबका पालण-पोषण करती हूँ। मैं ही सब जगत् को हिलाती हूँ।

मेरे ही आश्रय से सब कुछ चल रहा है। सब ज्ञान, सब कर्म को मैं ही प्रेरित करती हूँ........'

ऋ० १०-१२५

इस प्रकार भगवान् की परावाणी ही सब कुछ करती है। सभी धर्मों वाले शब्द से जगत् की उत्पत्ति की तरफ जो इशारा करते हैं वह यही बात है। भगवान् के 'शब्द' (वाणी) में जो आता जाता है, वह होता जाता है। इसी तरह जगत् बना है और चलता है। असल में हम उसकी वाणी को समझ ही नहीं सकते। हम अपनी वाणी में रचना-शक्ति देखकर उसकी वाणी की भी कुछ कल्पना करते हैं। हमारा तो शायद इस पर भी विश्वास न जमे कि जगत में ऐसे 'सत्य-संकल्प' महात्मा भी होते हैं जो कि जो संकल्प करते हैं वही पूरा हो जाता है (सत्य हो जाता है)। उन्हें बोलने के लिए जीभ का प्रयोग करने की भी जरूरत नहीं होती, वे मध्यमा (मानस) वाणी का ही प्रयोग करते हैं मन में संकल्प उठता है और वह पूरा हो जाता है। ऐसे 'सत्य-संकल्प' महात्माओं का वर्णन करते हुए उपनिषद् में कहा है:—

'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति, (छन्दोग्य ८-२-१)

"वह पितृलोक की इच्छा करता है तो संकल्पमात्र से उसे पितृगण प्राप्त हो जाते हैं।" वाणी की इस अपार-शक्ति से हम कितनी दूर हैं, यही कारण है कि हमें असत्य में भी कुछ बल दिखलाई देता है।

सत्य को पूरी तरह ग्रहण करना बेशक बड़ा कठिन है। पर जो जितना सत्य को ग्रहण करता है, वह उतनी ही गहराई में जाकर सत्यमय देव के नज़दीक पहुँचता है, और उसकी वाणी में उतनी ही अमोघता होती है। जिन दुर्लभ सत्य-संकल्प महात्माओं का आत्मदेव उस सत्यमय देव से सम्बद्ध होता है, उनकी वाणी तो 'परा' की गहराई से उठती है और अतएव इसका प्रभाव प्रकृति के परले सिरे तक होता है, अर्थात् उनकी वाणी से सीधा जड़ प्रकृति में भी परिवर्तन हो सकता है जो योगी परतत्त्व तक तो नहीं जुड़े होते पर फिर भी इतने सत्यमय होते हैं कि उनकी वाणी 'पश्यन्ति' से सम्बद्ध होती है, उनकी यह वाणी भी सीधा पशुओं तक (नीचे प्रकार की चेतना तक) अपना प्रभाव करती है। ये लोक वाणी द्वारा पशुओं में भी परिवर्तन ला सकते हैं। इसके बाद तीसरी सीढ़ी पर वे लोग होते हैं, जो कि इतने मात्र सच्चे होते हैं कि वे वही बोलते हैं जो उनके हृदय में होता है। पूरे सत्य को

वे नहीं समझ सकते व पा सकते, किन्तु सत्य को जितना जैसा समझते हैं, बिलकुल वैसा ही बोलते हैं। इनकी वाणी हृदय से उठती है और अतएव अधिक नहीं तो चेतन मनुष्यों के हृदय तक तो अपना असर ज़रूर करती है। इसके भी बाद हम आम लोग हैं, जो कि इतने स्थूल सत्य का भी पालन नहीं करते कि जो हमारे हृदयों में है, ठीक वह ही बोलें—प्रकट करें। ऐसों की वाणी हृदय से भी नहीं निकलती, किन्तु जीभ से ही उठती है और इसलिये यह दूसरे मनुष्यों के अन्दर (हृदय में) भी नहीं घुसती, कानों तक ही पहुँचती है।

सुन्दर और रोचक बोलने वाले दुनिया में बहुत से मिल जायेंगे, उनका कथन उस समय आनन्द भी देता है, किन्तु उसका कुछ भी चिरस्थायी असर हृदय पर नहीं पड़ता। दूसरी तरफ लोकमान्य तिलक वक्तृत्व की दृष्टि से बड़ा ख़राब बोलने वाले थे, पर उनका कथन लोगों के हृदयों में तीर की तरह घुस जाता था और स्थिर प्रभाव करता था।

इसी तरह आजकल लोग बहुत अधिक बोलते हैं और इसी में वाणी की शक्ति समझते हैं। किन्तु बहुत मात्रा में बोलने का भी प्रभाव नहीं है, गहराई से बोलने का ही

प्रभाव है। प्राचीन ऋषि लोग सूत्रों में बात किया करते थे। नैपोलियन धावा बोलने से पहिले अपने सैनिकों से बहुत थोड़े से शब्द बोला करता था और उनके द्वारा उनमें जान फूंक देता था। महात्मा गान्धी के थोड़े से शब्दों में कितनी शक्ति होती है। जिसकी वाणी में जितना तेज बढ़ता जाता है, उसे उतना ही कम बोलने की आवश्यकता होती है। अतः जो सत्य-संकल्प होते हैं, वे 'वैखरी' वाणी बोलते ही नहीं। यहां पर पाठक मन में की गई हार्दिक प्रार्थना की महाशक्ति को भी समझ गये होंगे। वेदों में जो इतनी प्रार्थनायें भरी पड़ी हैं, उनका प्रयोजन यही है। मनुस्मृति में कहा है कि वाचिक जप से उपांशु-जप और उपांशु-जप से मानस जप हज़ार गुणा अधिक प्रभावशाली होता है।

इसलिये यदि हम रोचक बोलने और बहुत बोलने की जगह हृदय से सचाई के साथ थोड़ा बोलें तब ही हमें वाणी की शक्ति का कुछ अनुभव हो जाय। इटली के लोग कहते थे कि 'मेज़िनी की क़लम में जादू है।' लोग कहते हैं कि गांधी जी बात-चीत करके लोगों पर जादू कर देते थे। पर यहां जादू कुछ नहीं है; सत्य बोलना, जैसा अनुभव करना वैसा ही बोलना, बस यही जादू है। मतलब यह कि वाणी की शक्ति गहराई में है और कहीं नहीं।

अतः इस वाणी रूपी धनुष को जितना अपनी तरफ खींच कर 'वाक्' तीर छोड़ा जायगा उतना दूर तक यह प्रभाव करेगा ।

(iii) वेदोक्त धनुष

अब पाठक इस वाणीरूप धनुष की रचना को भी समझ लें। धनुर्दण्ड 'हृदयबल' है। जो सत्य बोलता है उसे कोई भय नहीं होता। सत्य के साथ निर्भयता जुड़ी हुई है।

सत्यान्नास्ति भयं क्वचित्

जब हृदय में सत्य और निर्भयता होती है तो हृदय में बड़ा बल होता है। हृदय की 'दैवी सम्पद्' की गणना 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इस तरह श्री कृष्ण जी ने शुरू की है। यही हृदय-बल रूपी धनुर्दण्ड है जिसमें कि जीभ की डोरी लगी हुई है। इससे शब्द रूपी बाण छोड़े जाते हैं। जैसे डोरी से तीर छूटते हैं वैसे ही जीभ से शब्द निकलते* हैं,

---

* यहां पर 'जीभ' और 'शब्द' ये दोनों शब्द उपलक्षण हैं। मन्त्र में तो इनके लिये क्रमशः 'जिह्वा' और 'वाक्' शब्द पढ़ा है। निघंटु में ये दोनों शब्द, बल्कि 'नाडिकाः' शब्द भी वाणी के नामों में गिनाये हैं। अतः 'जिह्वा' और 'वाक्' का 'जीभ' और 'शब्द' यह अनुवाद करना अपूर्ण अनुवाद

जैसे खाली डोरी में तीर को दूर तक फकने की शक्ति नहीं होती अतः डोरी को एक दण्ड में बाँधा जाता है जिसे धनुर्दण्ड कहते हैं, इसी तरह जीभ यूँही नहीं बोल सकती, हृदय से अभिप्राय और उसके बोलने की इच्छा पैदा होती है तभी जीभ हिल सकती है। जीभ हृदय के आश्रित है। अतः इसे धनुर्दण्ड बताया है। पाठक यह तो समझ गये होंगे कि हृदय भी वाणी का ही अंग है—वाणी का मध्यम-स्थान है। जैसे धनुर्दण्ड और धनुष की डोरी इन दोनों के ठीक तरह मिलने पर इनके द्वारा तीर छूटता है वैसे ही हृदय-बल और जीभ इन दोनों के द्वारा शब्द निकलता है। शब्द-तीर में जो अर्थ है उसे हृदय प्रेरित करता है और जो ध्विन (आवाज) है उसे जीभ प्रेरित करती है। इस तरह शब्द-तीर छूटता है।

इस शब्द-तीर की नोकें क्या हैं जोकि जाकर लक्ष्य में चुभती हैं ? यह हैं प्राणवहा नाड़ियां जिन के लिए

है। अतः पाठकों को उपलक्षण कह कर समझना होगा। वाणी द्वारा जैसा भी प्रभाव हम दूसरे तक पहुँचाना चाहते हैं उन सबका उपलक्षण वाक् (शब्द) हैं। और जिन २ साधनों से (पुस्तक लिपि आदि से भी) यह प्रभाव पहुँचाया जाता है उन सबका उपलक्षण 'जिह्वा' है।

आधुनिक शब्द 'ज्ञानतन्तु' (Nerves) है। आज-कल के विज्ञान के अनुसार हम यह तो जानते हैं कि शब्द का ग्रहण (सभी इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण) ज्ञान तन्तुओं (Nerves) द्वारा होता है। हमारा भेजा हुआ शब्द दूसरे के ज्ञानतन्तुओं पर असर करता है तो उसे पता लगता है कि मुझे यह ज्ञान हो रहा है। एवं वक्ता के ज्ञानतन्तुओं का प्रभाव श्रोता के ज्ञान-तन्तुओं पर होता है। वक्ता ने जितनी वेदना (Feeling) के साथ शब्दोच्चारण किये होते हैं श्रोता के अन्दर भी वे उतनी ही वेदना को पैदा करते हैं—Feeling को उठाते हैं। अतः शब्दरूपी तीर के अग्रभाग (नोक) प्राणनाड़ियाँ (Nerves) बताई हैं। हमारे औपनिषद् विज्ञान के अनुसार तो यह कथन और भी स्पष्ट है। जैसे कि उपनिषदों में मन सर्वव्यापक माना गया है, वैसे ही प्राण भी सर्वव्यापक है। जब हम किसी भाव के साथ कुछ बोलते हैं तो हमारे शरीर के प्राण की लहरें इस सर्वव्यापक प्राण के माध्यम द्वारा श्रोता के प्राण में पहुँच कर उस में वैसी ही लहरें पैदा करती हैं। इस प्रकार हमारे शब्दों के साथ भेजी हमारी प्राण-लहरें श्रोता के प्राण में जाकर चुभती हैं। यही प्राण-लहरें हमारे (अस्त्र के) के बाण के दांत (नोकें) होती हैं।

यदि ये बाण की नोकें हमने समझ ली हैं तो अब यह समझना आसान है कि इस में तीक्ष्णता कैसे आती है—यह शब्द बाण की नोकें तेज़ कैसे की जाती हैं जिस से कि जोर से चुभें। लोहे के बाण की नोकें तो आग में डाल कर और इसे विष में बुझा तेज बनाई जाती है जिस से कि यह शत्रु के शरीर के अन्दर घुस जायें और उसे अपने विष द्वारा मार दें। पर पमारे धनुष के बाणाग्र तो 'तपसाऽभिदिग्धा' (तप से तीक्ष्णीकृत) होते हैं। इस में तेज़ी तप से आती है। तप का अर्थ है कष्टसहन। हमने स्वयं जितनी तपस्या की होगी हमारे द्वारा कहे जाते हुए सत्य में उतना ही तीव्र भावावेश (Emotion) पैदा होता है जोकि श्रोता को जाकर के चुभता है। हमारे इस शस्त्र में तो (दूसरे को कष्ट देने की जगह) अपने-आप कष्ट सहने से तीक्ष्णता आती है। जिस सत्य को हम दूसरे तक पहुँचाना चाहते हैं—दूसरे के हृदय को बदल कर उसे वह सत्य स्वीकार करवाना चाहते हैं—उस सत्य के लिये हमने यदि कष्ट सहे होंगे तो उस हमारे कहे सत्य में तेज आ चुका होगा। जैसे रगड़ने से किसी चीज़ में तीक्ष्णता आती है, वैसे कष्ट सहने से उस सत्य में तीक्ष्णता आती है। अतएव हम देखते हैं कि जिन्होंने देश के लिये

कष्ट सहे होते हैं उनकी वाणी श्रोताओं को अधिक चुभती है ।

इस धनुष को चलाता कौन है ? इसे गति कहां से मिलती है ? इसे यहां 'देवजूतै' शब्द से कहा है । ब्राह्मण के हृदय में रहने वाले देव (अभय, पवित्रता, सत्य आदि देव भाव) धनुष में "जव" वेग को देते हैं । पाठक देखेंगे इस बाण-धनुष की मुख्य वस्तु "देवजूत हृदय-बल" है । अतः हृदय-बल को ही इस मंत्र में धनुष कहा है "हृद्बलैर्धनुर्भिः" आज-कल की भाषा में बोलें तो हृद्बल का अर्थ "संकल्प-बल या मनोबल (Willpower)" है । हृदय-बल ही मुख्य वाणी है—अन्दर की (मानस आदि) वाणी है । इसे हम हृदय-वाणी भी कह सकते हैं । यह हृदय-वाणी ही ब्राह्मण का मुख्य धनुष है; शेष जीभ, वाक्, नाड़ियां आदि इस धनुष के अंग हैं और इस गति देनेवाले हृदयवासी देव हैं या देव है। यही देवजूत हृदय-वाणी (Will power) रूपी धनुष है जिस से कि ब्राह्मण देवपीयुओं का विनाश करता है—उन के हृदयों को बदल देता है ।

(iiii) यह धनुष पकड़ लो

सत्याग्रहियों का यही अस्त्र है। मनु ने ब्राह्मण का

हथियार 'आथर्वण श्रुति' बतलाया है। ऐसी हार्दिक वाणी बोलने वाले—इस हथियार से शत्रु को परस्त करने वाले—तपस्वी पुरुष हमेशा सब देशों में सब कालों में रहे हैं। इन तेजस्वी लोगों की अन्दर से निकली वाणियों ने देशों में क्रान्तियाँ ला दी हैं। इन महापुरुषों की वाणी के इशारों पर हज़ारों लाखों लोग आज्ञा पालने के लिये उठ खड़े होते हैं। वाणी के इस महान् अस्त्र के मुक़ाबले में तोप बन्दूक क्या हैं? वल्लभभाई की वाणी को बारदोली के किसानों ने सुना क्योंकि उसकी वाणी में वह तेज़ था कि उसे बिना माने वे रह नहीं सकते थे, अतः अंग्रेज़ी विशाल साम्राज्य की सब तीर-तोपें धरी रह गयी। गान्धीजी भी यदि अपनी वाणी को सम्पूर्ण भारत को सुना सकें अतः भारत देखते-देखते स्वाधीन हो गया। गान्धी जी की वाणी के बल से सन् १६२१-२२ में हज़ारों लोगों ने खुशी-खुशी बड़े-बड़े दुःख सहे थे। यह एक पुरुष के हृदय वाणी रूपी देवजूत धनुष का प्रधान था पर यदि हम सभी अपने अन्दर रखे इस हथियार को उठा लें तो कितना महान् कार्य सम्पन्न हो जाय। हम संसार को इस वेदोक्त अस्त्र का सफल प्रयोग करके दिखाला दें। दुनिया को एक नया अस्त्र दीख जाय, जिससे कि तोपों मैशीनगनों और विषैली गैसों की चिन्ता

में दबी और ईर्षा, द्वेष, घृणा से दुःखी यह दुनिया कुछ सुखी हो जाय। क्या हम असत्य को नहीं छोड़ सकते ? हृदय को शुद्ध नहीं कर सकते ? बस इतने से ही यह देवजूत (दिव्य) धनुष बन जाता है। इसे ही क्यों नहीं पकड़ते ? हमारे पास बन्दूक-पिस्तौल नहीं है तो क्या हुआ ? भगवान् ने यह दिव्य धनुष तो हम सब को प्रदान कर रखा है और स्वयं हमारे हृदयों में इस अस्त्र को चलवाने के लिये तैयार हो कर बैठे हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।

यह हृदयवासी देव इस धनुष को प्रेरित कर सकें— इसे 'जय' (गति) प्रदान कर सकें इसके लिये एक ही बात की आवश्यकता है कि हम हृदय को बिलकुल शुद्ध कर लेवें, उसमें असत्य का लवलेश भी न रहे। द्वेष, हिंसा, भय कायरता इनका स्पर्श तक तक न रहे। जितना हम हृदय को इन मलों से खाली करेंगे हृदय के उतने ही अंश में ये सत्य-स्वरूप देव अपना निवास कर इस धनुष को देवजूत बनायेंगे और उतनी ही अधिक दूर तक यह धनुष मार कर सकेगा। इस अस्त्र का सफल प्रयोग करने के लिये इस धनुष को देवजूत बना लेने के बाद जिस दूसरी वस्तु की जरूरत है वह अपने बाण को तेज़ करने की है बाण

ज़ोर से छूटेगा भी, किन्तु यदि वह तेज़ न हुआ तो उसका वेग वृथा है। अतः दूसरा काम यह करना है कि अपने बाणों को 'तपसाऽभिदिग्धा' बनाना है। हम तप करें। स्वाधीनता के अपने महान् सत्य के लिये सब कष्ट सहने के लिये उद्यत हों। ज्यों-ज्यों हमारा तप बढ़ेगा त्यों-त्यां हमारे बाण तीक्ष्ण होते जायेंगे और उन के द्वारा हमारे देशवासियों के हृदयों में स्वाधीनता का प्रकाश फैलने लगेगा और उधर हमारे अंगरेज़ भाइयों के हृदय का स्वार्थान्धकार निकलने लगेगा।

याद रखो कि हमने इन हृदयवाणी के धनुषों का प्रहार पहिले अपने ही देश-भाइयों पर करना है। अंगरेज़ भाइयों पर असर तो फिर पड़ेगा। हमें अपने देशवासियों के हृदयों में स्वाधीनता का सन्देश पहुँचाना होगा, उनमें पूर्ण स्वाधीनता की प्यास लगा देनी होगी। इस तरह अपने बहुत से भाइयों का और फिर अंग्रेज भाइयों का हृदय परिवर्तन करना होगा।

यह सब हृदयवाणी का दिव्य धनुष कर सकता है। हृदय से निकली वाणी अवश्य हृदय परिवर्तन कर सकती है। केवल इस धनुष को उठा लेने वाले वीरों की जरूरत है। हम सभी के अन्दर यह धनुष पड़ा हुआ है—अनुपयोग के कारण रद्दी हुआ बिगड़ा पड़ा है। इसे उठा लो, और

इसे साफ करके ग्रहण कर लो। इसे उपयोग में लाने के लिये केवल उन्हीं दो उपर्युक्त बातों की जरूरत है। हृदय, जीभ, शब्द, नाड़ियां आदि तो हम सब को प्राप्त हैं अर्थात् धनुर्दण्ड, ज्या, बाण आदि सभी के पास विद्यमान हैं। जरूरत है केवल (i) धनुष को देवजूत बनाने की और (ii) बाणों को तप से तीक्ष्ण करने की। ये दोनों काम बेशक कठिन हैं, पर इस अस्त्र की शक्ति भी अपरिमित है। वीरता की परीक्षा भी तो इन कठिन कामों के करने में ही है। इन दोनों बातों को हम जरा और अच्छी तरह समझ लें।

(१) अपने धनुष को पूरा देवजूत (देवप्रेरित) बनाने वाला तो एक ही महापुरुष काफी है। जो महापराक्रमी 'परा' वाणी तक इस धनुष को खींच सकता है, वह तो केवल एक बार की प्रार्थना से भारत को स्वाधीन कर सकता है। 'भक्तजनन के सङ्कट क्षण में दूर करे' यह जो हम गाते हैं वह झूठ नहीं है। यह प्रार्थना यदि पूरी गहराई से निकले तो भगवान् सचमुच क्षण-भर में ही सङ्कट दूर करते हैं। पुराने ब्राह्मणों ने वेणु राजा को हुँकार से ही नष्ट कर दिया था, यह कुछ असम्भव बात नहीं है। प्राचीन ऋषि लोग वेदवाणी से प्रार्थना करके अपने मनोरथ सिद्ध किया करते थे। पर यदि हमारे हृदय में इतना बल नहीं है

कि हम में असत्य, द्वेष आदि मल का लेश तक न रह सके, अतएव हम में से कोई इस धनुष को आकर्णान्त न खींच सके, तो भी कुछ बात नहीं है। ऐसे परावाणी तक खींचने वाले महात्मा तो विरले ही होते हैं जो कभी-कभी जन्मते हैं। पर तो भी हम जहां तक खींच सकें, उतना तो खींचें और इसे अधिक से अधिक देवप्रेरित बनायें, सत्य और प्रेम से हृदय को भर लें। तो हम देखेंगे कि उन्नति के लिये हमारे हृदयों की व्याकुलता हमारे सब देशवासियों में फैल जायगी। सब देश जाग कर खड़ा हो जायगा।

(२) यदि फैलने में देर लगेगी तो कारण यही होगा कि हमारे बाण में तप की तीक्ष्णता की कमी होगी। इस के लिए हमें ठहर कर तप करना होगा, अपने बाणों को तेज़ करना होगा। तप की तीक्ष्णता वह तीक्ष्णता है जोकि वज्र को भी काट सकती है, फिर मनुष्यों के हृदयों को बदलना उस के लिए क्या मुश्किल है। वीर पुरुष धैर्य नहीं छोड़ता। हमारे अस्त्र का प्रभाव होने में जो कुछ देर होगी वह इन्हीं दो त्रुटियों से होगी। या तो धनुष देवजूत न होगा या तप की कमी से बाण में तीक्ष्णता न होगी। यदि हृदय से देव का आसन हिल जाय तो उसे फिर-फिर बिठाना होगा, और तप की कमी पता लगे फिर-फिर तप करना होगा। सामने

जो भी कुछ कष्ट आवें उन सब को सहना होगा। तप करते-करते शरीर को भी हँसते-हँसते त्याग देना, पर भगवान् के दिए इस अस्त्र को कभी नहीं त्यागना। सच्चा वीर कभी मरता नहीं। वीरों की मृत्यु शरीर के त्यागने से नहीं होती किन्तु ग्रहण किये हथियार के त्यागने से होती है। जो मनुष्य दुःख, कष्ट, मृत्यु से डरता है वह कायर इस दिव्य हथियार को उठा नहीं सकता। सत्य के लिये मर-मिटने का सामर्थ्य जिस में है वही वीर इस धनुष का चिल्ला चढ़ा सकता है।

इस लिये 'हृदय-शुद्धि' और 'तप की तीक्ष्णता' ये दो सम्पत्तियां जिन वीरों के पास हैं वे इस धनुष का चिल्ला चढ़ा कर आगे बढ़ें, और शेष सब लोग भी यथा-शक्ति अपने में इन दोनों गुणों को लाने का यत्न करते हुए पीछे-पीछे चलें, तो हम देखेंगे कि भगवान् की अपार-शक्ति हमारे साथ है—सब जगत् को प्रेरित करने वाली उस देव की परावाणी (शक्ति) हम भारत-वासियों के साथ है। तब संसार एक देवों के देखने योग्य दृश्य देखेगा।

६

यह अस्त्र अमोघ है

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो,
यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत,
दूरादेव भिन्दन्त्येनम् ॥

(हेतिमन्तः) इस हृद्बलरूपी धनुष वाले (तीक्ष्णेषवः) और इन तपः तीक्ष्ण बाणों वाले (ब्राह्मणाः) ये ब्राह्मण (यां शरव्या अस्यन्ति) जिस बाणसमूह को छोड़ते हैं (न सा मृषा) वह कभी चूकता नहीं। (तपसा उत मन्युना च) तप से और मन्यु

से (अनुहाय) पीछा करके वे इस तरह (एनं) इस देवपीयु को (दूरात्) दूर से ही (अव भिन्दन्ति) भेद देते हैं।

इस मन्त्र में जो विशेष बात कही है वह यह है कि ऐसे हृदयवाणी (Will-power) रूपी धनुष को धारण करने वाले ब्राह्मण जिस बाणसमूह को छोड़ते हैं वह कभी व्यर्थ नहीं जाता—चूकता नहीं—जरूर विरोधी को परास्त करता है। इसमें उसी अमोघता का वर्णन है जिसे कि व्यास जी ने 'अमोघा अस्य वाग् भवतीति' इन शब्दों से कहा है। इस व्यास-वाक्य के जनक इस वेदवचन पर भी क्या हमारी श्रद्धा न जमेगी ? इसमें यदि हमारी श्रद्धा हो तो हम में बड़ा भारी बल आ जाय, हम में सत्यनिष्ठ होने के लिये बड़ा वेग पैदा हो जाय। क्योंकि जिसे अपने अस्त्र की अमोघता पर विश्वास है वह उसे त्रिकाल में भी छोड़ नहीं सकता। यह ठीक है कि हम पूरे सत्यनिष्ठा के आदर्श तक एकदम नहीं पहुँच जायेंगे, पर श्रद्धा से अपनाया हुआ यह वेदवचन इस मार्ग पर हमारा प्रत्येक पद पर सहायक होगा। क्योंकि हम में जितनी सत्यनिष्ठा होगी, (इस देवजूत धनुष से छोड़े) तीर उतने तो अवश्य ही असर करेंगे। मतलब यह कि थोड़ी भी सत्यनिष्ठा

व्यर्थ नहीं जायेगी, वह उतना अच्छा असर अवश्य पैदा करेगी। इस तरह पूरी सफलता तो बेशक देर में (क्रमशः) मिलेगी, पर वह इस मार्ग से ही मिलेगी और ज़रूर मिलेगी यही बात वेद हमें बताना चाहता है। इस तरफ किया गया हमारा स्वल्प भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जायगा। तोप-गोला के हिंसक युद्ध में बहुत सा गोला-बारूद व्यर्थ जाता है। गत योरोपीय महायुद्ध में बहुत गोला-बारूद व्यर्थ गया, जो कि किसी शत्रु पर नहीं पड़ा। हिसाब लगाने वालों ने इस व्यर्थ गये गोला-बारूद का बहुत अधिक प्रतिशतक बतलाया है। पर सत्यमयी वाणी से छूटा बाण कभी निरर्थक नहीं जाता। यह 'रामबाण' होता है। 'रामबाण' की जगह यहां 'देवजूत बाण' (देव-परमात्मा से प्रेरित बाण) कहिये। हम अपनी निर्बलता के कारण चाहे इस अस्त्र द्वारा एक-दम सफलता न पा सकें, परन्तु इसी अस्त्र से हमारी शक्ति के अनुसार जल्दी या कुछ देर में हमें सफलता मिलनी निश्चित है। इस तरह इस अस्त्र की अमोघता को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। इसके समझ लेने पर बहुत कुछ आश्रित है। क्योंकि जिनको इस अस्त्र की अमोघता पर विश्वास न होगा वे इस दिव्य-अस्त्र को भी ग्रहण करने के लिये उद्यत नहीं होंगे या उद्यत

हो कर बीच में छोड़ देंगे। इसलिये यह अमोघ है, 'न सा मृषा' (यह कभी झूठ नहीं साबित होता), यह अन्त तक जरूर पहुँचाने वाला है बल्कि यदि हम में सत्यनिष्ठा की इतनी सामर्थ्य हो कि हम इस अस्त्र को पूरा खींच सकें तब तो यह एक-दम सफलता देने वाला है इस प्रकार का विचार हमें हृदयाङ्कित कर लेना चाहिये। 'न सा मृषा' ये शब्द तो हमारे अन्दर रम जाने चाहियें।

वह अस्त्र अमोघ क्यों है? क्योंकि इस अस्त्र वाले ब्राह्मण अपने विरोधी का तप और मन्यु द्वारा पीछा करके उसे जरूर भेदन कर देते हैं। बाहर के हिंसक युद्ध में भी जब शत्रु को बिलकुल नहीं छोड़ना होता तो उसका पीछा किया जाता है—पैदल या किसी सवारी पर उसके पीछे-पीछे पहुँचा जाता है। जैसे हम दो पैरों से (या दोनों तरफ लगे पहियों की किसी सवारी आदि से) पीछे जाते हैं वैसे यहां 'तप' और 'मन्यु' इन दो साधनों द्वारा पीछा किया जाता है। इन द्वारा हम विरोधी के हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं। चूँकि इस तरह 'तप' और 'मन्यु' द्वारा यह अस्त्र हमारी पहुँच विरोधी के हृदय में करा देता है अतएव यह अमोघ है।

तप का कुछ उल्लेख गत मन्त्र में आ चुका है। मन्यु

का अर्थ है 'बुराई को दूर करने की उत्कट, ओजस्वी इच्छा।' साधारणतया मन्यु का अर्थ 'श्रेष्ठ प्रकार का क्रोध, बिना द्वेष भाव के सर्वथा हित-कामना से निकला हुआ क्रोध, परमात्मा का बिलकुल निर्द्वेष क्रोध' ऐसा किया जाता है। परन्तु चूँकि 'क्रोध' शब्द के साथ द्वेष का भाव हमारे मनों में घनिष्टता के साथ जुड़ा हुआ है अतः मन्यु को किसी प्रकार का क्रोध कहना भ्रमजनक हो जाता है। अतएव मन्यु का अर्थ हम ठीक-ठीक जिन शब्दों में प्रकट कर सकते हैं वे ये हैं 'बुराई को हटाने की तीव्र, उत्कट किन्तु निर्द्वेष और क्रोध रहित इच्छा।' यदि हम सचमुच बिना द्वेष-भाव के दूसरे के हृदय से कुछ असत्य हटाने की इच्छा रखते हैं और वह इच्छा बड़ी उत्कट है तो हम इसके लिये सब कष्ट सहने के लिये भी ज़रूर तैयार होंगे। यह कष्ट सहने को तैयारी ही दूसरी वस्तु है, तप है, हमारा दूसरा पैर है। जैसे दोनों पैर मिल कर काम करते हैं वैसे ही तप और मन्यु दोनों मिल कर हमें अपने विरोधी के हृदय में पहुँचाते। केवल 'तप' हमें कहीं ले जायगा, पर उस के हृदय में ही नहीं। उधर ही हम 'मन्यु' के कारण जाते हैं, और तप द्वारा उस के समीप होते जाते हैं। केवल मन्यु से हृदय पकड़ा नहीं जाता। विरोधी के लिये

कष्ट सहने (तप) से ही उस के हृदय का रास्ता हमारे लिए खुलता है। बुराई हटाने की जितनी तीव्र इच्छा होगी और जितनी उस के लिए कष्ट सहने की शक्ति होगी उतना ही हम जल्दी अपने प्रतिद्वन्द्वी के हृदय में पैठ जायँगे। उदाहरण के लिए अपने देश की अवस्था को लेवें। गुलामी की बुराइयों को हम जितनी तीव्रता से अनुभव करते होंगे उतना तीव्र 'मन्यु' का भाव हम में उठेगा और हम गुलामी से छूटने के लिए व्याकुल होकर उतना ही अधिक कठोर-से कठोर तप करने को उद्यत होंगे। यदि भारतवर्ष में आज कोई महापुरुष देश की गुलाभी को इतनी तीव्रता (मन्यु) से अनुभव करता है कि इसे हटाने के लिए केवल अपना सांसारिक सुख, धन, मान आदि को ही छोड़ने को उद्यत नहीं, किन्तु (स्वाधीनता की इतनी कीमत समझ) उस के लिए अपने प्राणों के छोड़ने की भी इतनी तैयारी रखता है कि उसे यदि लाखों जन्म मिलें तो वह उन सब को ही 'स्वाधीनता देवी' की भेंट चढ़ाने में ही तृप्ति अनुभव करेगा तो ऐसा पुरुष भारत को आज ही स्वराज्य दिला सकता है—अपने तप, और मन्यु से अंग्रेज़ों के हृदयों को तुरन्त पलट सकता है।

ये तप और मन्यु हमें विरोधी की आत्मा से मिला

देते हैं, फिर वह विरोधी चाहे कितनी दूर रहता हो। 'दूरादवभिन्दत्येनम्'। इस अन्तरीय युद्ध में बाहिरी (भौतिक) दूरी कुछ बाधा नहीं डाल सकती। अभी तक निकली बड़ी से बड़ी तोप का गोला अधिक से अधिक ४०, ५० मील तक वार कर सकता है। पर यह हृदय-वाणी का अस्त्र न केवल सात समुद्र पार इङ्गलैंड के वासियों पर अपना वार कर सकता है, किन्तु यदि कहीं हमारे अस्त्र का विषय किसी दूसरे लोक में बसता हो तो इस अस्त्र को लेकर तप और मन्यु द्वारा हमारी आत्मा की पहुँच उस लोक तक भी हो सकती है। अस्तु।

इस अस्त्र का प्रकरण समाप्त करते हुए हमें एक बार सिंहावलोकन कर लेना चाहिए कि इस सब का क्या मतलब हुआ। इस अमोघ अस्त्र को जो उपयोग में लाना चाहते हैं वे क्या करें? वे हृदय को शुद्ध (सत्यमय) बनावें तथा तप करें, इतना गत मंत्र में कहा जा चुका है। इस से तो ठीक हथियार तैयार हो जायगा, पर इस हथियार का सफल उपयोग करने के लिए हमें कुछ और भी शर्त पूरी करनी चाहिए। हमें हृदय तो शुद्ध करना ही चाहिए पर फिर उस शुद्ध हृदय में विनाशनीय असत्य के प्रति 'मन्यु' भी पैदा होना चाहिए—उस के हटाने के लिए

हृदय में उत्कट इच्छा भी होनी चाहिए; और हमें तप केवल अपनी वाणी की तीक्ष्णता के लिए ही नहीं कर रखना होगा, किन्तु विरोधी के हृदय में पहुँचने के लिए भी तप करते जाना आवश्यक होगा। मतलब यह हुआ कि हमें अपने शुद्ध हृदय में बुराई को हटाने की तीव्र इच्छा रखते हुए तप का अनुष्ठान करना होगा।

हमें जो कुछ करना है, वह तो तप ही है। इस वाणी-रूपी शस्त्र को उठाने का मतलब कोई यह न समझे कि 'तो हमें खूब बोलना चाहिये।' यह तो कहा जा चुका है कि वाणी को अस्त्र बनाने के लिए वाणी का संयम करना आवश्यक होता है। अतः बहुत बोलना तो हमें प्रारम्भ में ही त्यागना होगा। फिर यह संयम करना होगा कि जो हमारे हृदय में हो ठीक वही वाणी में आवे। इस के बाद यह यत्न करना होगा कि हमारे हृदय में भी वही आवे जो कि वास्तव में सत्य हो। इस तरह धीरे-धीरे परमात्मा की इच्छा के विरुद्ध कोई भी इच्छा हमारे हृदय में न पैदा हो इतनी संयम की अवस्था लानी होगी। ये सब संयम करना बड़ा भारी तप है। पर वाणी में अपार-शक्ति भी इसी संयम से आती है।

इसी तरह क्योंकि यह धनुष हृदय-बल (Will-

Power) रूपी है, इस लिए इस का मतलब कोई यह भी न समझे कि 'तो हमें चुपचाप बैठ कर केवल मनोबल लगाना चाहिए'। वह अवस्था तो तब होती है—और तब स्वभावतः होती है—जब कि हमारे हृदय में पूरा बल आ आ चुका होता है। हम लोगों को तो वह हृदय-बल प्राप्त करना है। इस के लिए भी हमें तप ही करना चाहिए। तप से ज्यों-ज्यों हृदय के मल नष्ट होते जायँगे त्यों-त्यों हमारे हृदय में बल आता जायगा। यूँ ही खाली बैठने से बिना तप किये बल न आयगा। और बल के बिना आये हम मनोबल क्या लगायेंगे?

इस लिए हमें वाणी के संयम के लिए तप करना है, और हृदय में बल लाने के लिए भी तप करना है। इस तरह हमारे तैयार हृदय में यदि स्वभावतः कभी किसी असत्य के हटाने के लिए मन्यु उत्पन्न होगा तो चूँकि हम उस के लिए सब कष्ट सहने को (तप करने को) भी तैयार होंगे, अतः वह असत्य जरूर नष्ट हो जायगा। इस में सफलता न हो यह असम्भव है।

भारत के वैदिक युग के ऋषि लोग तप और सत्य से अपने को तैयार करके वैदिक वाणी (वेद-मन्त्रों) द्वारा अपनी सब सफलताऐं प्राप्त किया करते थे। आज यदि

हम में भी हमारे मन तो अपनी हृदय की वाणी से स्वाधीनता के मन्त्र का जप करते होंगे और हमारे शरीर सब कष्ट सहने को तैयार होंगे तो अब भी (इस युग में भी) परमात्मा उसी तरह हमें सफलता प्राप्त करायेंगे. इस में कुछ सन्देह नहीं है।

इस सूक्त की वेद-वाणी हम भारतवासियों को परमात्मा का आशीर्वाद पहुँचावे।

१०

वैतहव्यों का विनाश

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥

(ये सहस्रं अराजन्) जो सहस्रों पर राज्य करते थे (उत दशशताः आसन्) और स्वयं सैकड़ों थे (ते वैतहव्याः) वे वीतहव्य (राष्ट्रयज्ञ की कर-रूपी हवि को खा जाने वाली) सरकार के कर्मचारी लोग (ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) ब्राह्मण की वाणी को खा जाने के कारण (पराभवन्) पराभूत हो गये ।

वैतहव्य का अर्थ प्रारम्भिक विवेचना में स्पष्ट किया जा चुका है। 'शत' और 'सहस्र' का अर्थ 'बहुत से—बहुत अधिक संख्या में' यह है। वेद के निघण्टु में इनका अर्थ 'बहु' ही लिखा है। अतः इन शब्दों द्वारा यहां कोई संख्या नहीं गिनाई गई है, किन्तु वह प्रगट किया गया है कि वैतहव्य बहुत बड़ी प्रजा पर हुकूमत करते थे और उनकी अपनी संख्या भी बहुत थी। तो भी चूँकि वे राज्य-कर को अपने भोग के लिये इकट्ठा करते थे एवं राष्ट्रयज्ञ की इस हवि को स्वयं खा जाने का बड़ा पाप करते थे अतः वे नष्ट हो गये।

धन की लोभी यह सरकार जब कि यहां तक उतर आई कि इस राष्ट्र-हवि को खा जाने में भी इसे कुछ शंका लज्जा न होने लगी तो देश के ब्राह्मण ने देश में होते हुए इस अन्याय को अधिक देर तक देख न सकने के कारण इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठायी, तब उन वैतहव्यों ने इस विचारी वाणी की भी गो-हत्या कर डाली। यही उनके विनाश का कारण हुआ।

इस पाप के कारण वैतहव्य कैसे नष्ट हो गये यह बात पाठक अब तक अच्छी तरह समझ चुके हैं। इसे ही वे अब अगले दो मन्त्रों में स्वयं वेद के शब्दों में सुन लें।

११

मारी जाती हुई ब्राह्मण-वाणी ही उन्हें मार डालती है।

गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्यां अवातिरत्।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥

(ये) जो वैतहव्य (केसरप्राबन्धायाः) सुख-प्रसार के लिये बन्धनरहित इस वाणी की (चरमाजां) अन्तिम चेता-

वनी को भी (अपेचिरन्) पचा गये, हज़म कर गये अर्थात उसे भी नहीं सुना तो (तान् वैतहव्यान्) उन वैतहव्यों को (हन्यमाना गौः एव) मारी जाती हुई ब्राह्मण-वाणी ने ही (अवातिरत्) परास्त कर दिया।

ब्राह्मण अपनी वाणी के इस तपोमय अमोघ-अस्त्र को चलाने से पहिले विरोधी को बार-बार सावधान करता है। अन्तिम लड़ाई या अन्तिम प्रहार करने से पहिले भी वह और अन्तिम बार उसे सावधान करता है कि वह अब भी समझ जाय—सँभल जाय। पर जब उस 'चरमाजा' अन्तिम चेतावनी* का भी वह मदोन्मत्त राजा अनसुनी कर देता है तब उस पर वह अस्त्र गिरता है और तब उसे बाधित होकर झुकना पड़ता है। कल जो ऐंठता था वही आज ब्राह्मण-वाणी की सम्पूर्ण बात मानने को बाधित होता है। वह तो अपनी तरफ से उस वाणी को मार चुका होता है इसीलिये इसने उस समय तो उसकी 'चरमाजा' (अन्तिम चेतावनी) की तरफ भी ध्यान नहीं दिया था,

* चरमा = अन्तिमा, अजा = अजनम् चेष्टनम्। अजा का अर्थ यास्क मुनि भी 'अजनम्' करते हैं। पर पाश्चात्य लोग 'अज' का अर्थ सिवाय बकरे के और कुछ नहीं जानते।

मारी जाती हुई ब्राह्मण-वाणी ही उन्हें मार डालती है।

पर अब पीछे से हार कर उसे इसकी एक-एक बात स्वीकार करनी होती है। इस तरह मारी जाती हुई यह वाणी उसे हरा देती है।

यदि ये वेतहव्य उसकी अन्तिम चेतावनी को सुन लेते तो बहुत अच्छा होता; पर ये लोग उसकी वाणी की कीमत को नहीं समझते। वह वाणी तो 'केसरप्राबन्धा'* होती है अर्थात् वह सदा सब के सुख के लिये प्रवृत्त होती है और कभी बन्धन में नहीं डाली जा सकती—कभी पराधीन नहीं बनती।

---

*'केसरप्राबन्धायाः' यह एक स्त्रीलिङ्गी शब्द का षष्ठी का रूप है। यह यहां स्पष्ट वाणी का ही विशेषण है। के सुखे सुखनिमित्त सराय सरणाय प्रकर्षेण अबन्धा बन्धनरहिता।

१२

प्रजाद्रोही राजा

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥

(ताः जनतः एकशत या भूमिः व्यधूनुत) वह जन-समूह सैंकड़ों का था जिसे कि भूमि ने कम्पित कर दिया। (ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) ब्राह्मण की प्रजा को सताने के कारण वे वैतहव्य (असम्भव्यम्) बिना सम्भावना के ही (पराभवन्) परास्त हो गये ।

सत्य पर आरूढ़ राजा की आज्ञाओं का पालन जो प्रजा नहीं करती वह राज-द्रोही होती है; इसी तरह जो राजा सत्यारूढ़ प्रजा के लोकमत के विरुद्ध शासन करता है वह राजा प्रजा-द्रोही होता है। ऐसा राजा उस प्रजा को 'अपनी' नहीं कह सकता। ऐसी प्रजा तो अपने आपको उस राजा की समझती ही नहीं, वह तो ब्राह्मण की—अपने रक्षक नेता की—अपने को समझती है।

ब्राह्मण की अपने आप को मानने वाली, ब्राह्मण को अपनी शरण देखने वाली, इस प्रजा को हिंसन करके—सता करके वैतहव्य लोग अपने को पूरा प्रजाद्रोही बना लेते हैं। अतः वे यद्यपि सैकड़ों होते हैं तो भी भूमि उन्हें कम्पित कर देती है अर्थात् प्रजा की इस मातृभूमि में एक ज़बरदस्त क्रान्ति हो जाती है जिस में कि ये वैतहव्य हार जाते हैं। वैतहव्यों की बाह्य-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि किसी के भी मन में यह सम्भावना नहीं होती कि ये कभी हार सकते हैं; परन्तु वे ब्राह्मण के महान् तप के सामने सहज में ही हार जाते हैं और सर्व साधारण लोग आश्चर्य करते रहते हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिये यहां 'असम्भव्यम्' शब्द पढ़ा है।

१३

देवपीयु और देवबन्धु

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु,
गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति,
न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥

(देवपीयुः) देवभाव का द्वेषी मनुष्य (मर्त्येषु गरगीर्णः चरति, अस्थिभूयान् भवति) लोगों में विष पिये हुए की

तरह फिरता है और उसकी तरह हड्डो-हड्डी वाला हो जाता है। (यः) ऐसा जो देवपीयु (देवबन्धुं ब्राह्मण हिनस्ति) दैवभाव के पालक ब्राह्मण का हिंसन करता है (सः पितृयाणं लोकं अपि न एति) वह पितृयाण-लोक को भी नहीं प्राप्त होता।

ब्राह्मण "देवबन्धु" होता है, और प्रजा-द्रोही राजा "देवपीयु" होता है। तो यदि ब्राह्मण ऐसे राजा को सहज में हरा देता है तो इस में क्या आश्चर्य ? देव के विरोध में दुनिया में कौन ठहर सकता है ? देवबन्धु होने के कारण जहाँ ब्राह्मण का हृदय देवजूत बनता है, उसके हृदय में महान देव-बल सञ्चारित होता है और इस तरह वह अमोघ अस्त्र का काम देता है (मन्त्र ८); तो दूसरी तरफ़ देवपीयु के हृदय में इन्द्र आग जला देता है (मन्त्र ५)। तो फिर देवबन्धु क्यों जीतेगा ? देवबन्धु के विरोध में देवपीयु की और क्या-क्या दशा होती है, यह इस मन्त्र में वर्णन की है।

संसार में मनुष्य की गति के दो मार्ग प्रसिद्ध हैं, (i) देवयान और (ii) पितृयाण। वैदिक साहित्य में इनका बहुत वर्णन है। संक्षेप में इन्हें समझने के लिये पाठक निम्न वर्गीकरण को ध्यान से देख लें:—

	देवयान	पितृयाण
१	अपवर्ग आध्यात्मिक उन्नति	भोग भौतिक उन्नति
२	ब्रह्मचर्य द्वारा आत्मतेज बढ़ाना	संयमपूर्वक सन्तानोत्पत्तिकरना
३	गहराई	विस्तार

ये दोनों मार्ग स्वाभाविक हैं। यद्यपि देवयान पितृयाण की अपेक्षा बड़ा उच्चमार्ग है, पर पितृयाण भी है स्वाभाविक। जीव स्वभावतः भोग की तरफ़ जाता है, और फिर धीरे-धीरे भोग की तुच्छता का अनुभव कर स्वभावत: अपवर्ग की तरफ़ लौटता है। इस मन्त्र में कहा है कि देवपीयु पितृयाण-लोक को भी नहीं प्राप्त होता। इसका मतलब यह हुआ कि वह भोग भी स्वभाविक रूप से नहीं भोगता। वह भोग में इतना आसक्त हो जाता है कि भोजन के सामान्य नियमों का भी पालन नहीं करता, अत: उसका भोज भोज्य के भोजन की जगह विष का भोजन हो जाता है अतएव उसकी (शारीरिक) भौतिक उन्नति भी नहीं होने पाती। इसे ही प्रगट करने के लिये यहाँ 'अस्थिभूयान्' कहा है। विष के कारण शरीर का सब सार, सत्व, श्रेष्ठ भाग जल जाता है या बनना बन्द हो जाता है, उसके शरीर में हड्डी ही हड्डी हो जाती है। एक बार

रवीन्द्र ठाकुर ने पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने वाले जापान को भारत का संदेश सुनाते हुए कुछ ऐसी ही उपमा दी थी। उन्होंने कहा था कि अपनी संस्कृति, मानवता, न्याय, धर्म आदि सार वस्तुओं को गवाँकर कमाया हुआ धन निर्जीव होता है, हड्डियों का ढेर होता है। यह ऐसा होता है जैसे कि रस, रुधिर, शुक्र, तेज आदि का नाश करके शरीर में हड्डियों का बढ़ाना। देवपीयु की दशा ऐसी ही होती है।

यह दशा उसकी इस लिये होती है; क्योंकि वह देवों का (दैव-नियमों का) हिंसन करता है, क्रियात्मक-रूप में इनके विरोध में खड़ा होता हैं। इसे दिखाने के लिये इस मन्त्र में कहा है कि "देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति"। यदि वह देवयान-मार्ग पर न चल सके तो इसमें कुछ हर्ज नहीं, वह देवयान का विरोध न करता हुआ पितृयाण पर ही चले। पर वह तो देवयान का विरोध करता है। वह देव चाहे न बने, पर वह जो देव का हिंसक (देवपीयु) बनता है तो इससे उसके अभीष्ट पितृयाण की भी जड़ कट जाती है। वह भोग बेशक करे, पर वे भोग उसे दैव नियमों का उल्लंघन न करते हुए भोगने चाहियें। अर्थात् वह यदि देवबन्धु न बने तो देवपीयु भी न बने। तो इन दोनों में

बीच के एक ऐसे 'पितृवन्धु' की भी हम कल्पना कर सकते हैं जो कि देवपीयु भी नहीं होता। इन तीनों का लक्षण हम यों समझ सकते हैं।

देवबन्धु वह होता है जो कि देव का—जगत् में काम करने वाले "ऋत" नामक देव के नियमों का—पूरी तरह पालन करता है। उनसे अपने को बांध कर "देवयान" मार्ग पर जाता है।

पितृबन्धु वह होता है जो कि देव के इन नियमों का उल्लंघन न करता हुआ अपने को पितृलोक के नियमों से बांध कर "पितृयाण" मार्ग पर जाता है।

देवपियु वह होता है जो कि देव के इन नियमों का उल्लंघन करके पितृयाण पर जाना चाहता है अतः वह पितृयाण मार्ग पर भी नहीं चल सकता। अस्तु—

अब इनके विपरीत देवबन्धुओं की दशा कैसी होती है इसे पाठक अगले मन्त्र में देखें।

१४

सताये जाते हुए ब्राह्मण किस भाव में रहते हैं ?

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥

(अग्निः वै नः पदवायः) अग्निरूप प्रभु निश्चय से हमारा आगे ले जाने वाला[1] पथप्रदर्शक है और (सोमः

१ पदं प्राप्तव्यस्थानं वाययति गमयतीति पदवायः ।

दायादः उच्यते) सोमरूप प्रभु हमारा[1] दायाद हैं, (इन्द्रः अभिशस्ता हन्ता) इन्द्ररूप प्रभु हमारी हिंसा से रक्षा करने वाला है (तत् तथा वेधसः विदुः) सचमुच इसी तरह ज्ञानी ब्राह्मण लोग अनुभव करते होते हैं।

देवबन्धु ब्राह्मण लोग राजा की इतनी भारी शक्ति देख कर भी क्यों ज़रा भयभीत नहीं होते ? इतने घोर कष्टों को पाकर भी वे क्यों कभी विचलित नहीं होते ? वे दुःख, पीड़ा, ग़रीबी, कारावास, मृत्यु इन सब को क्यों निमन्त्रण देते हैं ? और इन्हें ऐसी प्रसन्नता से क्यों झेलते हैं ? इस सबका रहस्य इस मन्त्र में प्रदर्शित उनका विश्वास है। उन्हें यह सदा दीख रहा होता है कि भगवान् अपने तीनों (अग्नि सोम और इन्द्र) रूपों[2] में सदा उनके सहायक हैं।

इस विश्वास का कुछ हिस्सा भगवान् हमें भी प्रदान करें।

---

१ 'दायाद' सम्बन्ध का अर्थ छठे मन्त्र की व्याख्या में देखिए।

२ भगवान् के इन तीनों रूपों का विस्तृत व्याख्यान छठे मन्त्र की व्याख्या में देखिए।

१५

उपसंहार

इषुरिव दिग्धा नृपते ! पृदाकूरिव गोपते !
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥

(नृपते!) हे मनुष्यों के पालक राजा ! (दिग्धाः इषुः इव) ब्राह्मणवाणी विषबुझे तीर का काम करती है, (गोपते !) हे गौ के पालक राजा ! (पृदाकूः इव) ब्राह्मणवाणी सार्पिणी की तरह हो जाती है। (सा ब्राह्मणस्य घोरा इषुः, तया पीयतः विध्यति) ब्राह्मण का उसकी वाणी ही उत्कट हथियार है जिससे कि वह देवहिंसकों का वेधन कर देता है।

अन्त में राजा को 'नृपते' और 'गोपते' इन दो विशेषणों से सम्बोधित करके वेद इस विषय का उपसंहार करता है। राजा का काम ही 'नृपति' होना—मनुष्यों का पालक होना—है; और राजा तो 'गोपति' होने के लिये—

बिचारी गौ का पालन करने के लिए ही बनाया जाता है। पृथ्वी, गाय, वाणी (विशेषतया, ब्राह्मण-वाणी) इन स गौओं की (देखो, प्रारंभिक विवेचना पृष्ठ ११) तथा अन्य रक्षणीयों की रक्षा के लिये ही राजा की जरूरत होती है। क्योंकि ऐसा राजा ब्राह्मणी प्रजा की भी हिंसा करता (मन्त्र १२) और ब्राह्मण की वाणी 'गौ' की हिंसा करता (मन्त्र २, १०); अतः उसे अन्त में 'नृपते' और 'गोपते नामों से पुकार कर जगाना ही इस अन्तिम मन्त्र की विशेष बात है।

यह ब्राह्मण की वाणी रूपी गौ का वर्णन समाप्त है।

इस ब्राह्मण की गौ को जो सदा मङ्गलरूपा, कल्याणी होती हुई भी कभी विषदिग्ध इषु का भी काम करती है, जो ब्राह्मण की गौ कभी भयङ्कर सर्पिणी के रूप में भी दीखती है और जो कि चमत्कारिणी ब्राह्मण की गौ असुरों का ध्वंस करने के लिए एक अमोघ दिव्य धनुष का भी रूप धारण कर के कभी चमकती है, फिर भी जो असल में सदा शिवरूपा अभयदायनी है उस इस ब्राह्मण की गौ को हमारा बार-बार प्रणाम है।

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में इस कुल के पिता अमरकीर्ति, स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की पुण्य स्मृति में एक 'श्रद्धानन्द स्मारक निधि' स्थापित हुई है। जो सज्जन चाहें वे इन श्रद्धेय स्वामी जी की स्मृति में इस कुल को प्रतिवर्ष दस या इससे अधिक रुपये देने का प्रतिज्ञापत्र भर कर इसके सभासद् बन सकते हैं। अभी तक ऐसे सभासदों का हमारा परिवार लगभग पांच सौ सज्जनों का बन चुका है। इन्हीं सज्जनों को प्रतिवर्ष गुरुकुलोत्सव पर भेंट करने के लिये यह 'स्वाध्यायमञ्जरी' गुरुकुल से प्रकाशित की जाती है।

★